मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 117 ● वर्ष 13, अंक 1 ● मार्च 2023 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

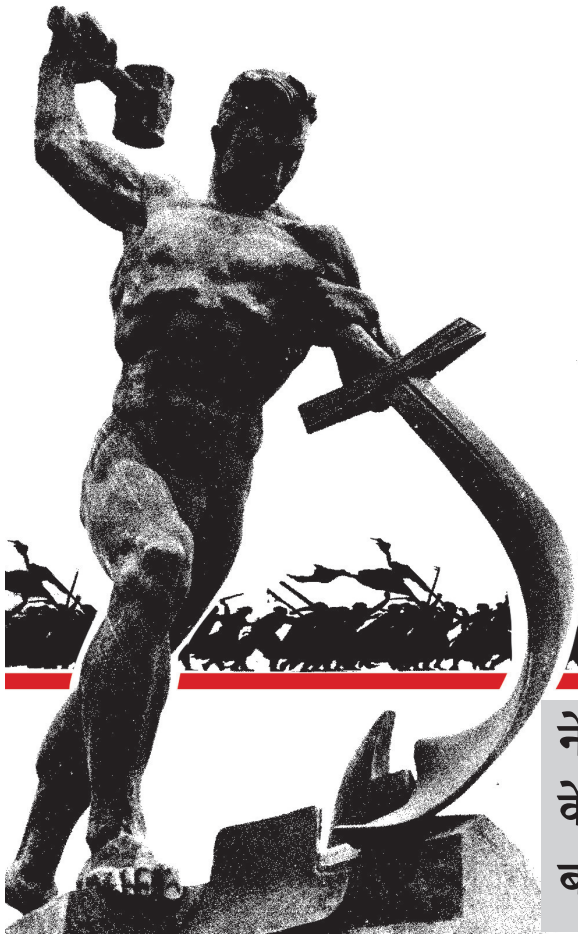

# मज़दूर बिगुल

नेल्ली जनसंहार के चालीस वर्षों बाद 5

क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा 7

कविता कृष्णपल्लवी की कविताएँ 15

## सर्वहारा वर्ग ही निर्णायक तौर पर रोक सकता है आम जनता को रौंदते फ़ासीवादियों के विजय अभियान को

### पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर फ़ासीवादी तानाशाह सत्ता का कोई स्थायी विकल्प नहीं है

# फ़ासीवाद को परास्त करने के लिए सर्वहारा रणनीति पर कुछ ज़रूरी बातें

**सम्पादकीय अग्रलेख**

फिलहाल जो संकेत मिल रहे हैं, उनसे इस बात की अधिक सम्भावना लगती है कि 2024 के लोकसभा चुनावों में नरेन्द्र मोदी-नीत भाजपा की अगुवाई वाले गठबन्धन की फिर जीत होगी। भारत की आम मेहनतक़श आबादी के लिए इससे बुरी कोई बात नहीं हो सकती है। यह बात 2014 और 2019 में फ़ासीवादियों के झूठे प्रचार और साम्प्रदायिक उन्माद में बह गये निम्न मध्यवर्ग व मध्यम मध्यवर्ग के बहुत-से आम लोग अब समझ रहे हैं। हालाँकि अभी भी फ़िरकापरस्ती में बह जाने का रुझान उनमें बाक़ी है। इसकी एक वजह ऐसे लोगों के जीवन में मौजूद सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा और लगातार मौजूद अनिश्चितता से पैदा होने वाला ग़ुस्सा, हताशा और चिड़चिड़ाहट भी है, जो उन्हें एक अन्धी प्रतिक्रिया की ओर धकेलती है। ऐसे में, जब कोई प्रतिक्रियावादी, यानी जनविरोधी व प्रगतिविरोधी ताक़त उन्हें मुसलमान, दलित, ईसाई, आदिवासी आदि के रूप में कोई भी नक़ली दुश्मन दिखाती है और उस नक़ली दुश्मन को उस असुरक्षा व अनिश्चितता का ज़िम्मेदार ठहराती है, तो तकलीफ़ों और परेशानियों से थका निम्नमध्य वर्ग, अर्द्धसर्वहारा आबादी और यहाँ तक कि संगठित व असंगठित मज़दूर आबादी का एक हिस्सा भी उन्माद में बहकर अपने ही हितों को नुक़सान पहुँचाते हुए धार्मिक व जातिवादी झगड़ों में कूद पड़ता है। इसके अलावा, "राष्ट्रवाद", "धर्मपरायणता", आदि के नाम पर फ़ासीवादियों द्वारा फैलाया गया यह उन्माद लक्ष्यहीन जीवन बिता रही लम्पट सर्वहारा आबादी (यानी जो मज़दूर वर्ग में पैदा होकर भी उसकी चेतना से रिक्त होते हैं) के नौजवानों को भी मानो ज़िन्दगी का कोई मक़सद दे देता है और अपनी प्रतिक्रिया को बदशक़्ल तरीक़े से निकालने का एक मौका दे देता है।

इस बार हम इस विषय पर विचार करेंगे कि **भारत में फ़ासीवादी संघ परिवार और मोदी-शाह की तानाशाह सत्ता के पक्ष में कौन-से कारक काम करते हैं? मौजूदा पूँजीवादी संसदीय व्यवस्था में क्यों बड़ी-बड़ी कम्पनियों, मालिकों, ठेकेदारों, धनी किसानों व भूस्वामियों, बिल्डरों, प्रॉपर्टी डीलरों, शेयर दलालों, धनी दुकानदारों आदि की, यानी कि पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली कोई पार्टी फ़ासीवादी संघ परिवार की राजनीति और उसकी सत्ता का स्थायी और निर्णायक विकल्प नहीं दे सकती? सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी को मोदी-शाह की जनविरोधी अमीरपरस्त सरकार और संघ परिवार के समूचे फ़ासीवादी प्रोजेक्ट को पराजित करने के लिए तात्कालिक तौर पर और दीर्घकालिक तौर पर क्या करना होगा?**

सबसे पहले यह समझना ज़रूरी है कि फ़ासीवादियों का पलड़ा भारी होने की कई वजहें हैं। **वर्गयुद्ध में हमें ख़ुद को भी जानना होता है, और साथ ही हमें शत्रु को भी जानना होता है।** इसलिए सबसे पहले हम इस पर विचार करेंगे कि आज मज़दूर व मेहनतकश-विरोधी फ़ासीवादियों की शक्ति के पीछे मुख्य कारक कौन-से हैं, जो आज उनका पलड़ा भारी कर देते हैं।

(पेज 8 पर जारी)

## 'मज़दूर बिगुल' के पाठकों से एक अपील

आख़िरी पेज देखें

**मज़दूर-मेहनतकश व कर्मचारी साथियो!**
**छात्र-नौजवान दोस्तो!**

हम जानते हैं कि पिछले 9 वर्षों के मोदी राज में महँगाई, बेरोज़गारी, भुखमरी और भ्रष्टाचार ने सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये हैं। विपक्ष के नेताओं के भ्रष्टाचार पर मोदी सरकार की एजेंसियाँ तत्काल कार्रवाई करती हैं, लेकिन क्या अडानी के भ्रष्टाचार पर कोई कार्रवाई हुई, क्या व्यापम घोटाले पर कोई कार्रवाई हुई, क्या पीएम केयर घोटाले पर कोई कार्रवाई हुई, क्या कर्नाटक में रंगे हाथों करोड़ों रुपये के साथ पकड़ में आये भाजपा के नेता व उसके बेटे पर कार्रवाई हुई? उल्टे भ्रष्टाचारी और अपराधी भाजपा की लाण्ड्री में जाकर दूध के धुले बन जाते हैं। देश में 32 करोड़ बेरोज़गार हैं, 23 करोड़ लोग सरकारी ग़रीबी रेखा के नीचे हैं (सही मायने में तो यह तादाद 40 करोड़ के ऊपर बैठेगी), देश में असमानता चरम पर है, क़रीब 20 करोड़ आबादी के सिर पर छत नहीं है।

**देश में आम मेहनतकश जनता की ऐसी बेहाली कभी नहीं हुई थी।** आज साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता में हमें बहाकर वास्तव में मौजूदा निज़ाम अडानियों-अम्बानियों की पायबोसी और सिजदे में लगा है। ऐसे में, देश में संघ परिवार व मोदी-शाह निज़ाम के ख़िलाफ़ देश के दस राज्यों में **भगतसिंह जनअधिकार यात्रा** को **भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी** व कई जनसंगठन आयोजित कर रहे हैं। उद्देश्य है पूँजीपरस्त साम्प्रदायिक फ़ासीवादी मोदी सरकार के ख़िलाफ़ और समूची पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़, जिसने अपने संकटकालीन दौर में पूँजीपति वर्ग की इस बर्बर व नग्न तानाशाही को पैदा किया है, जनता में एक जागृति, गोलबन्दी और संगठन पैदा करना; शहीदे-आज़म भगतसिंह और उनके साथियों के वैज्ञानिक सिद्धान्तों और उसूलों से जनता को परिचित कराना।

**'मज़दूर बिगुल'** की टीम और इससे जुड़ा **बिगुल मज़दूर दस्ता** भी इस ज़रूरी मुहिम का अंग है। हम आपसे तहे-दिल से अपील करते हैं कि जब भी यह यात्रा आपके गाँव या शहर से गुज़रे तो इसमें ज़रूर शामिल हों। पीछे छपे पोस्टर में दिये गये नम्बरों पर सम्पर्क करके यात्रा में शामिल होने के लिए आप अपना पंजीकरण करवा सकते हैं। यात्रा की तालमेल कमेटी आपके इलाक़े से यात्रा गुज़रने के समय के बारे में आपसे सम्पर्क कर आपको सूचित करेगी।

**उम्मीद है कि बदलाव के इस सफ़र में आप हमारे हमराही बनेंगे...**

**– मज़दूर बिगुल टीम**

**बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!**

**बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता और मेहनतकश जनता की लूट के ख़िलाफ़!**
**रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा, आवास और जुझारू जनएकजुटता के लिए!**

# भगतसिंह जनअधिकार यात्रा

**(12 मार्च–14 अप्रैल, 2023)**

**अगर आप इस यात्रा में सहयात्री बनना चाहते हैं या किसी अन्य तरीक़े से हमसे जुड़ना चाहते हैं तो नीचे दिये गये लिंक पर जाकर फ़ॉर्म को भरें।**
**https://forms.gle/Qfy86rMxH3HWo31B9**

"अगर कोई सरकार जनता को उसके बुनियादी अधिकारों से वंचित रखती है, तो जनता का यह अधिकार ही नहीं बल्कि आवश्यक कर्तव्य बन जाता है कि ऐसी सरकार को बदल दे या समाप्त कर दे।"
**– भगतसिंह**

साथियो!

हम एक ऐसे दौर में भगतसिंह जनअधिकार यात्रा निकाल रहे हैं जब देश की जनता बढ़ती बेरोज़गारी, कमरतोड़ महँगाई, लोगों की पहुँच से दूर होती शिक्षा-स्वास्थ्य जैसी समस्याओं से जूझ रही है।

एक ओर महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, ग़रीबी, भूख और शोषण ने आम मेहनतकश जनता की कमर तोड़ रखी है, वहीं दूसरी ओर लोगों के बीच धार्मिक उन्माद फैलाकर आपस में लड़ाया जा रहा है ताकि उन्हें ज़िन्दगी के असल मुद्दों से बहकाया जा सके। जनता के बीच जनता के ही एक हिस्से को नक़ली दुश्मन बनाकर पेश किया जा रहा है, ताकि हम असली दुश्मन की पहचान ही न कर सकें। अंग्रेज़ों की 'बाँटो और राज करो' की नीति को मौजूदा सरकार पूरे ज़ोरशोर से लागू कर रही है।

ऐसे दौर में आम मेहनतकश जनता के बीच फ़ौलादी एकजुटता क़ायम करने और जनता के ज़रूरी मुद्दों पर लोगों को एकजुट करने के काम में हमें बिना देर किये जुट जाना होगा अन्यथा बहुत देर हो जायेगी। इसलिए हम देश के सभी इंसाफ़पसन्द-तरक़्क़ीपसन्द नागरिकों-छात्रों-नौजवानों से अपील करते हैं कि 'भगतसिंह जनअधिकार यात्रा' से जुड़ें। यह यात्रा 12 मार्च से 14 अप्रैल, 2023 तक दिल्ली, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, बिहार, उत्तराखण्ड, पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, चण्डीगढ़, राजस्थान और तेलंगाना में अलग-अलग जत्थों द्वारा निकाली जायेगी।

**अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें - 095827 12837 (फ़ोन/व्हॉट्सऐप)**

## 'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।
2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।
3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)
4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

**अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 8853476339**

*"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।"* – **लेनिन**

**'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।**

**यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।**
**बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।**
**सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।**

### मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
**www.mazdoorbigul.net**

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
**www.facebook.com/MazdoorBigul**

## 'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul


## मज़दूर बिगुल

| | |
|---|---|
| सम्पादकीय कार्यालय | : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339 |
| दिल्ली सम्पर्क | : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250 |
| ईमेल | : bigulakhbar@gmail.com |
| मूल्य | : एक प्रति – 10/- रुपये<br>वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित)<br>आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये |

# सड़क पर तो हम जीते ही थे, अब न्यायालय में भी जीत के क़रीब है दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों का संघर्ष !

## दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के आन्दोलन पर एक अपडेट

पिछले वर्ष दिल्ली में 38 दिनों तक चली आँगनवाड़ीकर्मियों की ऐतिहासिक हड़ताल के बाद संघर्ष का सिलसिला अब तक भी जारी है। **दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन** के बैनर तले चली इस हड़ताल से ख़ौफ़ज़दा दिल्ली व केन्द्र सरकार ने आपसी सहमति से दिल्ली के उपराज्यपाल माध्यम से इस ऐतिहासिक हड़ताल पर 'हेस्मा' लगवा दिया था। इसके अलावा हड़ताल स्थगित हो जाने के बाद विभाग द्वारा 884 महिलाकर्मियों को ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से बर्ख़ास्त कर दिया गया था। इन बर्ख़ास्तगियों के ख़िलाफ़ 15 मार्च 2022 को यूनियन द्वारा दिल्ली उच्च न्यायालय में केस दायर किया गया था। इसके साथ ही सड़कों पर आन्दोलन भी जारी है। लगातार भाजपा और 'आप' के नेताओं-मन्त्रियों का भण्डाफोड़ कर आँगनवाड़ी स्त्री कामगारों ने इनकी नाक में दम कर रखा है।

इसी बीच कानूनी संघर्ष में भी ग़ैर-क़ानूनी बर्ख़ास्तगी के ख़िलाफ़ चल रहे इस आन्दोलन में आँगनवाड़ीकर्मियों ने जीत की ओर एक और क़दम बढ़ा दिया है। अदालत में हो रही जिरह में दिल्ली के महिला एवं बाल विकास विभाग के प्रतिनिधियों को बगलें झाँकने को मजबूर होना पड़ रहा है। इस दौरान 15 फ़रवरी को विभाग ने खानापूर्ति के लिए पुनः बहाली के नाम पर एक बेहद घटिया शर्तों वाला महिलाकर्मी विरोधी ऑर्डर जारी किया। इस ऑर्डर में सभी 884

महिलाकर्मियों की व्यक्तिगत जाँच-पड़ताल की शर्त के अलावा उन्हें नयी भर्तियों के तौर पर रखने व पिछले सारे रिकॉर्ड व बकाये को शून्य कर देने के प्रावधान थे। पुनः बहाली की एक शर्त यह भी थी कि बहाली के उपरान्त भी महिलाकर्मी निगरानी के अधीन रहेंगी।

इस ऑर्डर के जारी होने के अगले ही रोज़ **दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन** के नेतृत्व में सैकड़ों आँगनवाड़ीकर्मियों ने महिला एवं बाल विकास विभाग के दफ़्तर के ऐन सामने इस ऑर्डर की प्रति के साथ-साथ ऑर्डर जारी करने वाले संयुक्त निदेशक नवलेन्द्र कुमार और मनीष सिसोदिया के पुतले फूँके। **दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन** के आन्दोलन से बौखलाये महिला एवं बाल विकास विभाग और दिल्ली सरकार के तलवे चाटने वाली सीटू से सम्बन्धित जेबी व काल्पनिक "यूनियन" ने विभाग के इस ऑर्डर की न केवल भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए विभाग को "प्रेम-पत्र" सौंपे बल्कि उन्हें व्यक्तिगत जाँच करने का सुझाव पिछले साल ही दे देने के लिए ख़ुद अपनी पीठ भी थपथपा ली। ज़ाहिर है कि मज़दूर आन्दोलन के ये विभीषण, मीर जाफ़र और जयचन्द प्रशासन के बचाव के लिये पूरी वफ़ादारी से खड़े हैं। सीटू की इस "यूनियन" का दिल्ली में आन्दोलन से ग़द्दारी का पुराना रिकॉर्ड है। आज फिर जब दिल्ली सरकार और विभाग बेबसी का शिकार हो रहे हैं तो सीटू की जेबी "यूनियन" विभाग स्तरीय जाँच की इस नयी नौटंकी के समर्थन में विभाग के अधिकारियों के सुर में सुर मिला रही है। दिल्ली सरकार के महिला एवं बाल विकास विभाग और सीटू की तमाम उम्मीदों पर पानी फेरते हुए अदालत की जिरह में दिल्ली

स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के प्रतिनिधियों ने 15 फ़रवरी के उक्त ऑर्डर की धज्जियाँ उड़ाते हुए प्रतिशोध की भावना से लैस इस आदेश को ख़ारिज करवा दिया। **यह यूनियन के संघर्ष की एक अहम जीत थी।**

दिल्ली सरकार, महिला एवं बाल विकास विभाग और उसके दलालों की बेचैनी इस बात का सबब है कि दिल्ली सरकार के सामने अब कोई रास्ता नहीं बचा है। कुछ वक़्त पहले तक इन्हीं बर्ख़ास्तगियों को सही ठहराने वाला महिला एवं बाल विकास विभाग ऑर्डर जारी कर पुनः बहाली की नौटंकी करने को मजबूर हुआ। लेकिन अनर्गल शर्तों से भरे इस ऑर्डर को महिलाकर्मियों ने नामंज़ूर कर अपने संघर्ष को तब तक जारी रखने का ऐलान किया है जब तक सभी 884 ग़ैर-क़ानूनी टर्मिनेशन रद्द नहीं कर दिये जाते हैं। दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों का संघर्ष न केवल टर्मिनेशन के ख़िलाफ़ है बल्कि न्यूनतम मज़दूरी, कर्मचारी का दर्जा, एरियर का भुगतान व ग्रैच्युटी समेत अन्य कई वाजिब माँगों के लिए भी है। महिलाकर्मियों के संघर्ष के दमन के ज़िम्मेदार आम आदमी पार्टी व भाजपा के ख़िलाफ़ दिल्ली निगम चुनाव में चला व्यापक बहिष्कार आन्दोलन भी आगे जारी रहेगा। न्यायालय में हमारा पक्ष इसीलिए मज़बूत है क्योंकि हमारी एकजुटता ठोस है और हम सड़क पर मज़बूत हैं।

**– वृषाली (यूनियन संवादाता)**

# भाजपा की शातिर अफ़वाह मशीनरी की नयी घटिया हरकत और उसका पर्दाफ़ाश

अफ़वाह फैलाना सभी फ़ासिस्टों की रणनीति का एक बुनियादी हिस्सा होता है और संघी हिन्दुत्ववादी मशीनरी सरकारी प्रचार तंत्र और गोदी मीडिया के अतिरिक्त सोशल मीडिया पर भी अपने आईटी सेल के भाड़े के टट्टुओं को बैठाकर इस काम को पुराने फ़ासिस्टों के मुक़ाबले भी अधिक असरदार ढंग से अंजाम देती है। साम्प्रदायिक तनाव और दंगों के हर मामले में उनकी इस साज़िशाना कार्रवाई की अहम भूमिका होती है। अफ़वाहों के ये कारख़ाने दिन-रात काम करते हैं और लगातार साम्प्रदायिक प्रचार करके तथा झूठी ख़बरें गढ़कर मुस्लिम आबादी को निशाना बनाने और धार्मिक कट्टरपंथी उन्माद फैलाने के साथ ही अन्ध-राष्ट्रवादी लहर उभाड़ने का काम करते रहते हैं।

अभी हाल ही में उनकी एक ऐसी ही घिनौनी हरकत का पर्दाफ़ाश हुआ है। भाजपा के आईटी सेल ने हाल ही में पाँच ऐसे वीडियो सोशल मीडिया पर वायरल किये जिनमें तस्वीरों में जालसाज़ी करके यह दिखलाया गया था कि तमिलनाडु में उत्तर भारत के मज़दूरों को डराया-धमकाया जा रहा है, उनके साथ गाली-गलौच और मारपीट की जा रही है। इसे पुष्ट करने के लिए भाजपा के तमिलनाडु के अध्यक्ष के. अन्नामलाई ने भी द्रमुक के एक नेता के पुराने बयान को आधार बनाकर ट्वीट कर दिया। दिलचस्प बात यह रही कि बिना तथ्यों की जाँच-पड़ताल किये बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने इसपर बयान भी जारी कर दिया!

लेकिन 'ऑल्ट न्यूज़' के प्रतीक सिन्हा और मुहम्मद ज़ुबैर ने जाँच करने के बाद सभी पाँच वीडियो को जालसाज़ी बताया। इस बारे में 'ऑल्ट न्यूज़' की वेबसाइट पर गत 2 मार्च को पत्रकार कलीम अहमद का एक लेख भी प्रकाशित हुआ। चेन्नई की साइबर अपराध शाखा ने तमिलनाडु के भाजपा अध्यक्ष के ख़िलाफ़ झूठा प्रचार करके तनाव और वैमनस्य फैलाने के आरोप में मुक़दमा भी दर्ज कर लिया है। भाजपा की उत्तर प्रदेश इकाई के एक प्रवक्ता के ख़िलाफ़ भी झूठी ख़बर फैलाने के लिए मुक़दमा दर्ज कराया गया है।

इस बात को समझना बहुत कठिन नहीं है कि 'हिन्दू-मुस्लिम' के बाद अब 'उत्तर-दक्षिण' के बीच तनाव और झगड़ा उकसाने के पीछे आखिर संघी फ़ासिस्टों की मंशा क्या है। दरअसल यह सब 2024 के आम चुनावों की तैयारी का ही एक हिस्सा है। काशी-मथुरा जैसे मसले, गोहत्या, मदरसे आदि जैसे ध्रुवीकरण के मुद्दे और चुनावों के ऐन पहले 'पाकिस्तान-पाकिस्तान' का शोर मचाकर अन्धराष्ट्रवादी लहर उभाड़ने जैसे असरदार अस्त्र तो भाजपा के तरकश में हैं ही, लेकिन मँहगाई-बेरोज़गारी की अभूतपूर्व मार झेल रही आम जनता के बीच "विकास-पुरुष' के सारे बैलून जिस तरह फुस्स हुए हैं, उसे देखते हुए भाजपा अपनी जीत सुनिश्चित करने के लिए सबकुछ कर गुज़रना चाहती है। इसके बाद, जहाँ ज़रूरत और सम्भावना होगी वहाँ ईवीएम का खेला होगा और फिर चुनाव बाद संसदीय घोड़ा मण्डी में घोड़ों की ख़रीद के लिए अरबों-खरबों की थैलियों के मुँह खोल देने का अन्तिम विकल्प तो है ही। लेकिन फिर भी, अन्तिम विकल्पों के पहले के सारे हथकण्डों को तो आज़माया ही जायेगा।

तमिलनाडु में उत्तर भारतीय मज़दूरों पर हमलों की अफ़वाह फैलाना उसी सोची-समझी रणनीति का हिस्सा है। भाजपा जानती है कि तमिलनाडु में उसका वोटबैंक न के बराबर है और इसलिए चुनाव में कोई बड़े पैमाने की धाँधली या दूसरे किसी भी भाजपाई हथकण्डे का इस्तेमाल वहाँ मुश्किल होगा और वहाँ के चुनावी नतीजों पर इससे कोई विशेष फ़र्क़ भी नहीं पड़ेगा। हाँ, यदि उत्तर भारतीयों पर वहाँ हमलों की अफ़वाह फैलाकर 'उत्तर बनाम दक्षिण' के झगड़े को तूल दे दिया जाये तो उत्तर भारत, विशेषकर उ.प्र. और बिहार में वोटों की अच्छी फसल काटी जा सकती है।

अब हालाँकि इस फासिस्ट बदमाशी का पर्दाफ़ाश हो चुका है, लेकिन मुख्य धारा का मीडिया और सोशल मीडिया पर संघी फासिस्ट तन्त्र की जो पकड़ है और घर-घर तक अपना प्रचार पहुँचाने का जो आरएसएस का नेटवर्क है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि इस अफ़वाह की जितने लोगों तक पहुँच होगी, उसके पचासवें हिस्से तक भी इस जालसाज़ी के भण्डाफोड़ की खबर नहीं पहुँचेगी।

ऐसी हर घटना इस बात का और भी ज़्यादा गहराई के साथ अहसास कराती है कि आम जन-समुदाय के क्रान्तिकारी संघर्षों के साथ-साथ जनता के वैकल्पिक मीडिया का निर्माण करके ही फ़ासिस्टों की ऐसी हरक़तों का जवाब दिया जा सकता है। साथ ही, जब मज़दूर वर्ग के कैडर-आधारित क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी संगठन की पहल से, और उसकी अगुवाई में तृणमूल स्तर से मज़दूरों के विविध प्रकार के मंच, संस्थाएँ और जन-संगठन खड़ा करके फ़ासिस्टों के विरुद्ध एक दीर्घकालिक फ़ैसलाकुन संघर्ष की तैयारी आगे बढ़ेगी तो घर-घर तक अपनी बात पहुँचाने में मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी पक्ष की भी वैसी प्रभाविता बन जायेगी कि वह फ़ासिस्ट प्रचारों को मुँहतोड़ उत्तर दे सकेगा!

**– कात्यायनी**

# अम्बेडकरनगर के गाँवों के कारख़ानों में खटते मज़दूरों के हालात

कुछ समय पहले तक हमारे गाँवों में मिट्टी के बर्तनों को कुम्हार अपने परिवार वालों के साथ मिलकर चाक पर बनाया करते थे। अब आप जिन कुल्हड़ों में शहरों में, ढाबों पर चाय पीते हैं वह कुम्हार के चाक पर नहीं, बल्कि कारख़ानों में बने होते हैं। अम्बेडकरनगर के ग्रामीण इलाकों में भी ऐसे कई कारख़ाने खुल चुके हैं। लेकिन इन कारख़ानों में चाक की जगह उन्नत मशीनों पर काम करने के बावजूद लोगों का काम आसान होने के बजाय मुश्किल हो गया है क्योंकि मालिकों ने मशीनों का प्रयोग लोगों के काम को सरल बनाने के लिए नहीं बल्कि मुनाफ़ा कमाने के लिए किया है। पहले जब हाथों से चाक पर मिट्टी का बर्तन बनाया जाता था तो उत्पादन कम होता था। परन्तु मशीन का प्रयोग करने से उत्पादन ज़्यादा होता है जिससे मालिकों का मुनाफ़ा बढ़ता जाता है।

इन कारख़ानों में ज़्यादातर महिलाएँ काम करती हैं। जिन महिलाओं की उम्र 18 से 35 वर्ष के बीच होती है, वे मशीनों पर काम करती हैं। 18 वर्ष से कम उम्र की लड़कियाँ फ़िनिशिंग और पैकिंग का काम करती हैं। इन कारख़ानों में काम करने वालों को शुरुआत के 15 दिनों तक ट्रेनिंग दी जाती है। इसका उन्हें कोई वेतन नहीं मिलता है जबकि ट्रेनिंग के दौरान भी मालिकों के मुनाफ़े की हवस मज़दूरों का पीछा नहीं छोड़ती। मालिकों का कहना होता है कि ट्रेनिंग के दौरान भी रोज़ दो हज़ार बर्तन बनने चाहिए। ज़ाहिर है कि ट्रेनिंग का मतलब और कुछ नहीं, बल्कि 15 दिनों तक मुफ़्त में बेगार करवाना है। क्योंकि चाक पर बर्तन बनाने के परम्परागत तरीक़े में जिस कुशलता को अर्जित करना पड़ता था, उसके विपरीत मशीनों पर कुछ घण्टों में ही काम सीखा जा सकता है। ट्रेनिंग के पन्द्रह दिन बीतने पर 6,000 रुपये मासिक या रुपये प्रतिदिन वेतन देने को कहा जाता है। लेकिन यदि कोई मज़दूर आठ घण्टे में दो हज़ार गिलास बनाता है तभी उसे एक दिन के 200 रुपये दिये जाते हैं। फ़िनिशिंग करने वाली महिलाओं को एक दिन में 8 घण्टे में लगभग 3-4 हज़ार गिलासों की फ़िनिशिंग करनी होती है, जिसका एक दिन का 100 रुपये तथा मासिक 3500 वेतन दिया जाता है। महीना पूरा होने पर वेतन न देकर, अगला माह आधा निकल जाने पर वेतन मिलता है। यदि कोई मज़दूर किसी कारणवश पहले पैसा माँगता है तो सीधा इनक़ार कर दिया जाता है।

मज़दूर लगातार पूरे महीने काम करते हैं, क्योंकि इन कारख़ानों में रविवार को भी छुट्टी नहीं मिलती है। यदि कोई मज़दूर छुट्टी माँगता है, तो भी छुट्टी नहीं मिलती। मालिकों का कहना होता है कि हमारे यहाँ इतना माल नहीं बन चुका है कि तुम लोगों को छुट्टी दें। यदि किसी दिन बर्तन बनाने के लिए मिट्टी नहीं रहती है, तो उस दिन बर्तन नहीं बनता है। लेकिन मज़दूरों को छुट्टी न देकर उन्हें फ़िनिशिंग या पैकिंग जैसे किसी दूसरे काम में लगा दिया जाता है। ये सारा काम मज़दूर खड़े होकर करते हैं। जब भट्टी चलती है तो गिलास को ट्राली पर लगाना और उतारना होता है। ये काम पूरे दिन लगातार चलता रहता है। ऐसे ही एक कारख़ाने में काम करने वाले मज़दूर ने बताया कि "हमारे कारख़ाने में आधे घण्टे का लंच होता है जिसमें मिट्टी से सने हुए हाथों को धोने में ही दस मिनट निकल जाता है। बाकी बचे बीस मिनट में तुरन्त खाना खाओ, और शायद पाँच मिनट भी ठीक ढंग से आराम किये बिना फ़िर कोल्हू के बैल की तरह मशीन पर लग जाओ। यदि कोई मज़दूर ओवरटाइम करता है तो उसे आधे घण्टे काम का मात्र 12 रुपये मिलता है। ओवरटाइम काम निकलवाने से मालिक को मुनाफ़ा होता है जिसके कारण वह अन्य मज़दूरों पर भी ओवरटाइम करने का दबाव बनाता है। इस कारख़ाने में 65 मिली, 70 मिली और 100 मिली के कुल्हड़; 150 मिलीऔर 250 मिली के गिलास; 100 मिली और 150 मिली की कोसिया (कटोरी) तथा 200 मिली की प्लेट बनती है। बाज़ार में मालिक प्रति गिलास 2 रुपये से 5 रुपये तक के दाम पर बेचता है। पर जो मज़दूर उन गिलासों को बनाता है, वह उन्हें प्रति गिलास 25 पैसा भी नहीं देता है।"

वास्तव में पूँजीवादी विकास ने पुराने उत्पादन सम्बन्धों को तोड़कर समाज के हर स्तर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को विकसित किया है। गाँव में मिट्टी के बर्तनों के उद्योग की यह तस्वीर तो केवल इसकी एक बानगी है। खेतों से लेकर ईंट-भट्ठों समेत ग्रामीण इलाकों में उत्पादन का पूरा ढाँचा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के मातहत हो चुका है। ज़रूरत यह है कि ग्रामीण इलाके में इस मज़दूर आबादी की क्रान्तिकारी लामबन्दी को और तेज़ किया जाये।

**– बिगुल संवाददाता**

# उत्तराखण्ड में रोज़गार का हक माँगने पर मिलीं लाठियाँ और जेल

**– अपूर्व**

पिछले 8 फ़रवरी को देहरादून के गाँधी पार्क पर उत्तराखण्ड की कई सरकारी परीक्षाओं में धाँधली और पेपर लीक मामले को लेकर उत्तराखण्ड बेरोज़गार संघ द्वारा शान्तिपूर्ण धरना-प्रदर्शन का आयोजन किया गया था। लेकिन रात के 12 बजे उत्तराखण्ड पुलिस द्वारा उन्हें जबरन उठाने की कोशिश की गयी। इसके विरोध में 9 फ़रवरी को बड़ी संख्या में बेरोज़गार युवा गाँधी पार्क पर जुटने लगे। वे उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग और उत्तराखण्ड अधीनस्थ सेवा चयन आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं में धाँधली और पेपर लीक की घटना की सीबीआई जाँच कराने सहित अन्य माँगें उठा रहे थे। अपनी इन माँगों को लेकर बेरोज़गार युवा लगातार सरकार के दरवाज़े पर दस्तक देते रहे। लेकिन इनकी माँगों को सुनने की बात तो दूर उत्तराखण्ड की भाजपा सरकार के मंत्रियों और उनके उच्च अधिकारियों तक ने युवाओं से मिलना तक मुनासिब नहीं समझा। मज़बूर होकर छात्रों को सड़क जाम करना पड़ा, जिसपर उत्तराखण्ड पुलिस ने बर्बरतापूर्वक उनके ऊपर लाठियाँ बरसायीं। बेरोज़गार युवा संघ के नेतृत्व के 13 लोगों को गिरफ़्तार करके उनपर फ़र्ज़ी मुक़दमे दायर कर दिये गये। रोज़गार के हक़ के लिए अपनी आवाज़ उठाने वाले युवाओं को असामाजिक तत्व, तोड़फोड़ करने वाले दंगाई क़रार दे दिया गया। जो युवा शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे थे उन्हें कई संगीन धाराओं में गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया गया। बिना किसी गुनाह के उन्हें एक हफ़्ते तक जेल में रखा गया। यह सब उत्तराखण्ड की भाजपा सरकार की तानाशाही और मनमाने रवैये को तो दिखलाता ही है, साथ ही बेरोज़गार युवाओं की इस आशंका को भी मज़बूती प्रदान करता है जो लगातार यह कहते आ रहे हैं कि इन भर्तियों और घोटालों में सरकार के बड़े मंत्रियों और नौकरशाहों की मिलीभगत है।

पिछले कई सालों से उत्तराखण्ड में आयोजित होने वाली तमाम सरकारी परीक्षाओं में पेपरलीक और धाँधली के कई मामले उजागर हुए हैं। इनमें गिरफ़्तारियाँ भी हुई हैं। बार-बार उजागर होने वाली इन धाँधलियों की जाँच राज्य सरकार एसआईटी से करवा रही है लेकिन युवाओं को अब एसआईटी पर भरोसा नहीं है। वे सीबीआई या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की अध्यक्षता में बनाई गयी कमेटी से जाँच करवाना चाहते हैं। उत्तराखण्ड के बेरोज़गार युवा सरकारी भर्तियों में लगातार हो रहे घपले-घोटालों से त्रस्त हैं। उनका गुस्सा अचानक नहीं फूटा है बल्कि सरकारी नौकरियों की भर्ती में पिछले दो साल से लगातार घपले सामने आ रहे हैं जो 2015-16 की नियुक्तियों से ही चले आ रहे हैं। सरकार की नाकामी की वजह से न तो इसपर रोक लग पा रही है और न ही इस खेल के बड़े मास्टरमाइण्ड ही सामने आ पाये हैं। ऐसे में बेरोज़गार युवाओं का गुस्सा लाज़िमी है, जिनका भविष्य दाँव पर लगा है।

देश के बाकी राज्यों की तरह उत्तराखण्ड में भी बेरोज़गारी के भयंकर हालात हैं। पहाड़ में रोज़गार और बुनियादी सुविधाओं की कमी की वजह से एक बड़ी आबादी पलायन करके मैदानी इलाक़ों में आ रही है। कोरोना काल के बाद से यहाँ हालात और भी बदतर हुए हैं। सेंटर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकॉनमी (सीएमआईई) के अनुसार साल 2021-22 में भले ही उत्तराखण्ड में बेरोज़गारी दर राष्ट्रीय औसत से कम रही हो लेकिन यहाँ 20 से 29 वर्ष आयु वर्ग में बेरोज़गारी की दर 56.41% देखी गयी है जो देश के 20 से 29 वर्ष के आयु वर्ग में 27.63% बेरोज़गारी से दोगुनी से भी ज़्यादा है। यहाँ 20 से 24 आयु वर्ग में बेरोज़गारी की दर सबसे ज्यादा 81.76% और 25 से 29 वर्ष में यह दर 24.39% है। उत्तराखण्ड सेवायोजन विभाग से मिली जानकारी के अनुसार उत्तराखण्ड में रजिस्टर्ड बेरोज़गारों की संख्या 8,68,641 है। जबकि वास्तविकता में बेरोज़गारों की संख्या इससे कहीं ज़्यादा है। सरकार ने ख़ुद माना है कि उसने साढ़े चार साल में मात्र 15 हज़ार रोज़गार दिये हैं।

वैसे तो देश के हर युवा को रोज़गार की गारण्टी और सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार मिलना चाहिए। लेकिन मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था में लोगों और उनकी ज़रूरतों को ध्यान में नहीं रखा जाता है बल्कि कोई भी नीति मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर बनायी जाती है। राष्ट्रीय स्तर पर और राज्यों में रोज़गार का यह संकट असमाधेय नहीं है। पूँजीवादी विकास की असमानता की वजह से आज देश की एक बड़ी आबादी अनिश्चित ज़िन्दगी के अँधेरे में धकेल दी गयी है। अगर पूरे देश स्तर पर गाँवों से लेकर क़स्बों-शहरों में अस्पताल, स्कूल, सड़कें, परिवहन आदि बुनियादी ज़रूरतों पर ही काम किया जाये तो न केवल लोगों की सुविधाएँ बढ़ेंगी बल्कि इस प्रक्रिया में करोड़ों नौकरियाँ भी पैदा होंगी। उत्तराखण्ड जैसे पहाड़ी राज्य में ही सड़कों, अस्पतालों, स्कूलों से लेकर बुनियादी ढाँचे तक की बहुत कमी है। लेकिन इसके बावजूद उत्तराखण्ड की भाजपा सरकार न तो नये रोज़गार सृजन के लिए कोई नीति बना रही है और न ही सरकारी विभागों, सार्वजनिक उपक्रमों, और निगमों आदि में खाली पड़े हज़ारों पदों को भरने की कोई योजना बना रही है। पिछले सात-आठ सालों में जो भर्तियाँ निकली भी हैं वे पेपर लीक, नक़ल माफियाओं, धाँधली, भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ चुकी हैं। रोज़गार न दे पाने की अपनी नाकामी को छुपाने के लिए ही सरकार बेरोज़गार युवाओं के ऊपर ही लाठीचार्ज और फ़र्ज़ी मुक़दमे करवा रही है। हालाँकि लाठी-डण्डे और जेल का डर दिखाकर बहुत लम्बे समय तक नौजवानों के भविष्य के साथ नहीं खेला जा सकता है।

## अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के महान नेता स्तालिन के स्मृति दिवस (5 मार्च 1953) के अवसर पर

"सभी देशों के मज़दूर आन्दोलन का अनुभव ही अपने सामान्यीकृत रूप में सिद्धान्त कहलाता है। ज़ाहिर है कि, क्रान्तिकारी व्यवहार से विलग हो जाने पर सिद्धान्त निरुद्देश्य हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे सिद्धान्त का आलोक नहीं मिलने पर व्यवहार अँधेरे में टटोलता रह जाता है। लेकिन अगर सिद्धान्त का निर्माण व्यवहार से अविच्छिन्न रहते हुए किया गया हो तो वह मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में एक प्रचण्ड शक्ति बन सकता है; क्योंकि सिद्धान्त और एकमात्र सिद्धान्त ही वह चीज़ है जो आन्दोलन को विश्वास दे सकता है, दिशा की शक्ति दे सकता है और आसपास की घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों की समझदारी दे सकता है; क्योंकि सिद्धान्त और केवल सिद्धान्त ही वह चीज़ है जो व्यवहार को न सिर्फ़ यह अहसास करने में मदद कर सकता है कि वर्तमान समय में वर्ग कैसे और किस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, बल्कि यह भी बताता है कि निकट भविष्य में वे कैसे और किस दिशा में अग्रसर होंगे। लेनिन ने ही इस सर्वविदित उक्ति को कहा था और बार-बार दुहराया था कि, "क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं हो सकता।"

**– स्तालिन, *'लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्त'***

"स्वतःस्फूर्तता का "सिद्धान्त" एक अवसरवाद का सिद्धान्त है, यह मज़दूर आन्दोलन की स्वतःस्फूर्तता की पूजा करने का सिद्धान्त है; यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो वास्तव में, मज़दूर वर्ग के हिरावल की, यानी मज़दूर वर्ग की पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को ही खारिज करता है।

"स्वतःस्फूर्तता की पूजा करने का सिद्धान्त फैसलाकुन तौर पर मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के क्रान्तिकारी चरित्र का विरोधी है; यह मज़दूर वर्ग के आन्दोलन द्वारा पूँजीवाद की बुनियादों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने की लाइन अपनाने का विरोधी है; यह इस पक्ष में होता है कि आन्दोलन सिर्फ़ उन्हीं माँगों की लाइन पर आगे बढ़े जिन्हें "हासिल कर पाना मुमकिन" हो, यानी जो पूँजीवाद के लिए "स्वीकार्य" हों; यह पूरी तरह से "न्यूनतम प्रतिरोध की लाइन" के पक्ष में होता है। स्वतःस्फूर्तता का सिद्धान्त ट्रेडयूनियनवाद की विचारधारा होता है।

स्वतःस्फूर्तता की पूजा करने का सिद्धान्त स्वतःस्फूर्त आन्दोलन को राजनीतिक रूप से सचेत और सुनियोजित चरित्र देने का फ़ैसलाकुन तौर पर विरोध करता है। यह इस बात का विरोधी होता है कि पार्टी मज़दूर वर्ग के आगे-आगे मार्च करे, वह जनसमुदाय को राजनीतिक चेतना के स्तर तक ऊपर उठाये, और आन्दोलन का नेतृत्व करे; यह इस बात के पक्ष में होता है कि आन्दोलन के राजनीतिक रूप से सचेत तत्व आन्दोलन को अपनी राह चलने दें और इसमें कोई बाधा न डालें; यह इस पक्ष में होता है कि पार्टी स्वतःस्फूर्त आन्दोलन में मन लगाकर सिर्फ़ लगी रहे और उसकी पूँछ पकड़कर घिसटती रहे। स्वतःस्फूर्तता का सिद्धान्त आन्दोलन में सचेत तत्वों की भूमिका को तुच्छ बना देने का सिद्धान्त है, यह "ख्वोस्तिज़्म" (पुछल्लावाद) की विचारधारा है और अवसरवाद की सभी किस्मों का तार्किक आधार है।"

**– स्तालिन, *'लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्त'***

# नेल्ली जनसंहार के चालीस वर्षों बाद : इतिहास का वह प्रेत आज भी जीवित है

**– कात्यायनी**

नेल्ली के जनसंहार को चालीस वर्षों का समय बीत चुका है। लेकिन नेल्ली का प्रेत आज भी जीवित है और न केवल जीवित है बल्कि भेस बदल-बदलकर पूरे देश में मँडरा रहा है। सरकार और बुर्जुआ मीडिया की लाख कोशिशों के बावजूद यह सच्चाई छिपी नहीं रह सकी है।

वह 18 फरवरी 1983 का दिन था जब मध्य असम के नौगाँव जिले (आज के मोरीगाँव) के नेल्ली कस्बे और निकटवर्ती चौदह गाँवों में 6 घंटों तक निर्बाध बर्बर जनसंहार चला था जिसमें पूर्वी पाकिस्तान/बंगलादेश से विस्थापित होकर बसी मुस्लिम आबादी को निशाना बनाया गया था। सरकार के हिसाब से इस भयानक क़त्लेआम में मारे जाने वालों की संख्या दो हज़ार थी, लेकिन चश्मदीदों और बाद में इलाक़े का दौरा करने वाले पत्रकारों के अनुसार मारे गये लोगों की संख्या 7,000 से 10,000 के बीच थी और कुछ के हिसाब से तो दस हज़ार से भी ऊपर थी। 'इंडियन एक्सप्रेस' के पत्रकार हेमेन्द्र नारायण और 'असम ट्रिब्यून' के बेदब्रत लहकार इस घटना के चश्मदीद गवाह थे। बाद में अरुण शौरी (जो बाद में भाजपा के नेता बने) ने 'इंडिया टुडे' में इस पूरी घटना पर एक वस्तुपरक जाँच-पड़ताल आधारित रिपोर्ट प्रकाशित की थी। नेल्ली जनसंहार के तीस वर्षों बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शोधछात्र रह चुकी जापानी समाजविज्ञानी माकिको किमुरा की पुस्तक 'द नेल्ली मैसेकर ऑफ़ 1983 : एजेंसी ऑफ़ रायटर्स' 2013 में प्रकाशित हुई जो इस घटना और इसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि का सबसे विस्तृत और तथ्यपरक ब्योरा प्रस्तुत करती है। यह बात भी कम शर्मनाक नहीं है कि इस ऐतिहासिक त्रासदी पर किसी भी भारतीय समाजविज्ञानी की कोई पुस्तक नहीं है और समकालीन राजनीति पर लिखते हुए भी नेल्ली को शायद ही कोई याद करता है!

नेल्ली जनसंहार आज़ादी के बाद भारत का पहला इतने बड़े पैमाने का जनसंहार था। यह कोई दंगा नहीं था, बल्कि एक सुनियोजित क़त्लेआम था जिसमें चौदह मुस्लिम गाँवों को घेरकर बच्चों और स्त्रियों सहित निहत्थी मुस्लिम आबादी को संगठित हथियारबन्द भीड़ ने गाजर-मूली की तरह काट डाला था। इसके बाद जो दूसरा बड़ा जनसंहार हुआ, वह 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद पूरे देश में हुआ सिखों का क़त्लेआम था। तीसरा बड़ा क़त्लेआम 'गुजरात-2002' का था। यहाँ यह याद दिलाने की ज़रूरत नहीं कि 1989 में आडवाणी की रथयात्रा के समय से लेकर आजतक पूरे देश में मुस्लिम आबादी पर हमलों की घटनाएँ लगातार होती रही हैं और जितने भी दंगे हुए हैं उनमें मुख्यतः उन्हें ही निशाना बनाया गया तथा राज्य मशीनरी भी हमेशा उन्हीं को बलि का बकरा बनाती रही है।

नेल्ली की घटना जब घटी, उस समय असम आन्दोलन अपने शीर्ष पर था। असम गण परिषद (एजीपी) और अखिल असम छात्र संघ (आसू) चुनाव का बहिष्कार कर रहे थे। उनकी माँग थी कि चुनाव के पहले मतदाता सूची से कथित बंगलादेशी घुसपैठियों के नाम हटा दिये जाने चाहिए। चुनाव को सुचारु रूप से सम्पन्न कराने के लिए उस समय असम में केन्द्रीय अर्द्धसैनिक बलों की 400 कम्पनियों और सेना के 11 ब्रिगेडों की अभूतपूर्व तैनाती की गयी थी। कुख्यात के.पी.एस. गिल उस समय असम के पुलिस चीफ़ थे। पूरे राज्य के विभिन्न हिस्सों से, विशेषकर नौगाँव ज़िले से ख़बरें आ रही थीं कि तोड़फोड़ के अतिरिक्त बंगाली मुस्लिम आबादी के गाँवों पर हथियारबन्द हमलों की सम्भावना है। लेकिन समस्या यह थी कि इन केन्द्रीय बलों को स्थानीय पुलिस की मदद से ही सुदूर इलाक़ों तक पहुँचना था और राज्य की पुलिस की खुली सहानुभूति असम आन्दोलन के साथ थी। इस पूरी स्थिति में आग लगाने का काम अटलबिहारी वाजपेयी के एक भाषण ने किया। भाजपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष के रूप में असम में चुनाव प्रचार करते हुए वाजपेयी ने एक बेहद भड़काऊ भाषण दिया। इसमें उन्होंने कहा, "विदेशी लोग यहाँ आ गये हैं और सरकार कुछ नहीं करती है। अगर वे पंजाब में आये होते तो क्या होता? लोग उनके टुकड़े-टुकड़े करके फेंक देते।"

एक समस्या यह तो भारत में हर जगह रही ही है कि केन्द्रीय बलों में भी मुसलमान-विरोधी साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों की गहरी पैठ रही है। इसके बारे में दर्जनों रपटें हैं। असम में भी यह फ़ैक्टर मौजूद था। नेल्ली के आसपास उपद्रवी तत्व कुछ बड़ा करने की तैयारी कर रहे हैं, इसकी सूचना राज्य मशीनरी को हफ़्तेभर से लगातार मिल रही थी। कुछ संगठित टोलियाँ आसपास के तिवा और कोच जनजातियों और हिन्दू आबादी के गाँवों में हफ़्तों से यह प्रचार करके आतंक का माहौल बना रही थीं कि मुस्लिम बंगलादेशी उनके गाँवों पर हमला करने वाले हैं। राज्य मशीनरी ने कभी भी यह नहीं बताया कि वे संगठित गिरोह किन लोगों के थे। इसतरह भीड़ को "सम्भावित हमलावरों" को अग्रिम सबक सिखाने के लिए तैयार किया जा रहा था। और भी शर्मनाक बात तो यह है कि इस भयंकर जनसंहार के एक भी अभियुक्त को कोई सज़ा नहीं हुई। कुल 688 मुक़दमे दर्ज हुए थे, जिनमें से 378 सबूतों-गवाहों के अभाव में बन्द हो गये। शेष जो 310 मुक़दमे चल रहे थे, उन्हें 1985 में राजीव गाँधी और असम आन्दोलन के नेतृत्व के बीच समझौते के बाद बन्द कर दिया गया। सरकार के हिसाब से मृतकों की जो सूची थी, उनके परिवारों को 5-5 हज़ार रुपये और घायलों को 2-2 हज़ार रुपये थमा दिये गये। नेल्ली जनसंहार की जाँच के लिए सरकार ने तिवारी कमीशन का गठन किया था। लेकिन उस कमीशन की 600 पन्नों की रिपोर्ट को "क्लासिफ़ाइड डॉक्युमेंट" की श्रेणी में डालकर आजतक सार्वजनिक पहुँच से दूर रखा गया है।

नेल्ली की घटना की ज़मीन चन्द सालों में नहीं तैयार हुई थी। यह दशकों पुराना नासूर था जो भारत विभाजन की औपनिवेशिक साज़िश और उसके बाद से लगातार जारी चुनावी पार्टियों की वोट बैंक की राजनीति, असमी अन्धराष्ट्रवादी लहर के उभार तथा साम्प्रदायिक शक्तियों की निरन्तर सक्रियताओं का नतीजा था। विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान से आये विस्थापितों का एक बड़ा हिस्सा असम में आया था और उनमें मुसलमान भी थे। इससे पहले, ब्रिटिश गुलामी के दौर में भी बाढ़, अकाल और गरीबी के शिकार लोग बंगाल के सीमावर्ती हिस्सों से आकर असम में बसते रहे थे जिनमें बहुसंख्या मुसलमानों की थी। बाद के दशकों में भी पाकिस्तान के शासकों द्वारा किये जा रहे सौतेले व्यवहार और दमन के चलते पूर्वी पाकिस्तान से लोगों का भारत आना जारी रहा और इनमें से अधिकांश असम में ही आकर बसे। 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध और बंगलादेश बनने के समय लाखों की तादाद में जो शरणार्थी भारत आये, उनका बड़ा हिस्सा असम में आकर बसा। असम की हिन्दू आबादी और जनजाति आबादी से विस्थापितों की इस आबादी का सांस्कृतिक-भाषाई अलगाव तो था, लेकिन इनके बीच दुश्मनाना रिश्ते नहीं थे।

1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब देश में पूँजीवादी व्यवस्था का संकट गहराने लगा तो पूरे देश की जनता महँगाई और बेरोज़गारी के बढ़ते दबाव से परेशान हो उठी। किसी संगठित क्रान्तिकारी विकल्प की अनुपस्थिति में पूरे देश में पूँजीवादी दायरे के भीतर के एक विकल्प के तौर पर गैर-कांग्रेसवाद की बुर्जुआ संसदीय राजनीति ने अपने आधारों का विस्तार किया। असम सहित पूर्वोत्तर के राज्यों की जनता ने अपनी बढ़ती दुर्वस्था को केन्द्र द्वारा पहले से ही जारी अपनी उपेक्षा की नीति की निरन्तरता और विस्तार के रूप में देखा, हालाँकि असम की स्थिति पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों से भिन्न थी। चूँकि पूरे देश की ही तरह असम के राजनीतिक परिदृश्य पर भी ऐसी कोई संगठित क्रान्तिकारी वाम शक्ति विकल्प के रूप में मौजूद नहीं थी जो जनता को उसकी बदहाली के बुनियादी कारणों को बताते हुए उसे पूँजीपति वर्ग की केन्द्र और राज्य की समूची सत्ता के विरुद्ध लामबन्द और संगठित करती, इसलिए इसका पूरा लाभ असमी राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग ने उठाया और उसके बड़े हिस्से का समर्थन नवोदित असम गण संग्राम परिषद और अखिल असम छात्र संघ के आन्दोलन को मिला। इस असमी राष्ट्रीय आन्दोलन ने जल्द ही न सिर्फ़ अन्धराष्ट्रवादी बल्कि साम्प्रदायिक चरित्र भी अख़्तियार कर लिया और केन्द्र द्वारा उपेक्षा के विरोध के सारे मुद्दे सिमटकर इस बात पर केन्द्रित हो गये कि बंगलादेशी आप्रवासियों को नागरिकता देकर असम में न बसाया जाये, अवैध आप्रवासियों की शिनाख़्त करके उन्हें बाहर किया जाये और अबतक दी गयी नागरिकता की भी समीक्षा की जाये... आदि-आदि! यानी हमले का निशाना अब केन्द्र सरकार न होकर बंगलादेशी आप्रवासी हो गये और मुख्य मुद्दा भी बदल गया। चूँकि इन आप्रवासियों का बड़ा हिस्सा मुस्लिम था, इसलिए ज़मीनी तौर पर साम्प्रदायिक विद्वेष और विवादों की भी ज़मीन गहराती चली गयी।

कई समाज विज्ञानियों ने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि यही वह दौर था जब असम और पूर्वोत्तर के राज्यों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने ईसाई चर्चों और मिशनरियों का विरोध करते हुए हिन्दुओं के अतिरिक्त विभिन्न जनजातीय समुदायों के बीच भी तृणमूल स्तर पर अपने कामों का दायरा और अपनी सक्रियता तेज़ी से बढ़ायी थी। नेल्ली जनसंहार पर अपनी रिपोर्ट में अरुण शौरी ने भी स्वीकार किया था कि साम्प्रदायिक घृणा के उस बर्बर विस्फोट के पीछे आरएसएस की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका तो थी ही, भले ही वह मुख्य पहलू न हो। यह भी स्मरणीय है कि केन्द्रीय स्तर पर संघ असम आन्दोलन के मसले पर भले खुलकर स्टैंड न ले रहा हो, लेकिन असम में वह एजीपी और आसू को पूरी तरह से समर्थन दे रहा था और बंगलादेशी मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत की लहर भड़काने का काम व्यवस्थित ढंग से कर रहा था। नेल्ली के आसपास भड़काऊ प्रचार करने वाली संगठित सन्दिग्ध टोलियों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। असम के आज के राजनीतिक परिदृश्य पर हिन्दुत्ववादी फासिज़्म के उभार की परिघटना को अगर सही ढंग से समझना हो तो इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना बहुत ज़रूरी है। एजीपी और आसू ने जिस असमी संकीर्णतावादी अन्धराष्ट्रवादी आन्दोलन को नेतृत्व दिया था, उसका एक बड़ा हिस्सा बड़ी बुर्जुआ पार्टियों की राजनीति में समाहित हो गया क्योंकि उभरता हुआ असमी पूँजीपति वर्ग भी भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग के साथ उसके जूनियर पार्टनर के रूप में ज़्यादा से ज़्यादा व्यवस्थित होता चला गया। उसकी एक उपधारा ने 'उल्फ़ा' की आतंकवादी अन्धराष्ट्रवादी धारा की शक्ल अख़्तियार की, उसका सामाजिक आधार पंजाब के खालिस्तानियों की ही तरह बहुत संकुचित था और वह आज विलुप्तप्राय हो चुकी है। असम आन्दोलन के मुस्लिम आप्रवासी-विरोधी उग्र साम्प्रदायिक स्वर को आज हिन्दुत्व फासिज़्म ने अपने भीतर समाहित कर लिया है। असम की राजनीति में संघ की हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट राजनीति के प्रभाव-विस्तार का यही मूल कारण है।

भाजपा की राजनीति की यह ज़रूरत है कि असम में बंगलादेशी आप्रवासियों की समस्या को मुस्लिम "घुसपैठियों" की ऐसी "ख़तरनाक" समस्या के रूप में बनाये रखा जाये जो कालान्तर में असम के हिन्दुओं और जनजातियों को ही अल्पसंख्यक बनाकर दबाने लगेंगे और यह झूठा प्रचार जारी रखा जाय कि आज भी उनकी बेरोजगारी और ग़रीबी जैसी समस्याओं के लिए ये आप्रवासी ही ज़िम्मेदार हैं! यह संघी प्रचार असम में दिन-रात जारी रहता है। सीएए-एनआरसी के फ़ासिस्ट प्रयोग की शुरुआत असम से ही हुई और आज भी भाजपा लगातार इस मुहिम को फिर से चलाने की बात करती रहती है। ज़ाहिर है कि हिन्दू-मुस्लिम ध्रुवीकरण जितना तीखा होगा, असम में संघी फ़ासिज़्म का आधार उतना ही व्यापक और मज़बूत होगा। ज़ाहिर है कि बुर्जुआ वर्ग की दूसरी सभी पार्टियों के पास इसकी कोई काट नहीं है क्योंकि जनता की बुनियादी समस्याओं के कारणों को न तो वे इंगित कर सकती हैं और न ही उनका कोई समाधान प्रस्तुत कर सकती हैं। यही स्थिति उन संसदीय वाम पार्टियों की है जो इसी व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर संसदीय राजनीति का खेल खेलती रहती हैं। इस तरह इतिहास के इस आम सूत्रीकरण को यहाँ भी लागू किया जा सकता है कि फ़ासिज़्म की राजनीति का उभार, जिस तरह पूरे देश के पैमाने पर, उसी तरह असम के भी पैमाने पर क्रान्तिकारी वाम शक्तियों की विफलता का एक परिणाम है। साहित्यिक भाषा में कहें तो यह क्रान्ति की लहर को आगे गति न दे पाने के लिए मेहनतक़श जनसमुदाय को मिला एक ऐतिहासिक दण्ड है।

केवल मज़दूर वर्ग के संगठित हिरावल ही असम की जनता को इस सच्चाई का क़ायल बना सकते हैं कि उनकी सारी दुर्दशा का कारण बंगलादेशी "बाहरी" लोग या मुसलमान नहीं, बल्कि यह पूँजीवादी व्यवस्था है जो समूचे भारतीय मेहनतक़श अवाम का मुश्तरका दुश्मन है। अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की फ़ासिस्ट राजनीति का जवाब केवल क्रान्तिकारी वाम राजनीति के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाकर ही दिया जा सकता है। यहाँ इस मुद्दे को भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि पूरे देश की ही तरह असम की राजनीति में भी बदरुद्दीन अजमल जैसे लोगों की मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति भी प्रकारान्तर से हिन्दुत्ववादियों की राजनीति को ही बल प्रदान करने का काम करती है। यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ है कि धार्मिक अल्पसंख्यक आबादी बहुसंख्यावादी धार्मिक कट्टरपंथ के ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक आधार पर संगठित होकर कोई लड़ाई नहीं जीत सकती। उल्टे इससे उसे और अधिक विकट विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।

असम की राजनीति में भाजपा का प्रभाव और असमी समाज में संघ का

**(पेज 6 पर जारी)**

# शिक्षा का घटता बजट और बढ़ता निजीकरण

**– लता**

मोदी सरकार विश्वगुरु होने के दावे कर रही है और साथ ही शिक्षा पर होने वाले खर्च को हर साल कम भी करती जा रही है। शिक्षा और विशेष तौर पर प्राथमिक-माध्यमिक और उच्च-माध्यमिक शिक्षा देश में हमेशा ही उपेक्षा का शिकार रही है। चाहे कांग्रेस की सरकार हो या कोई भी अन्य सरकार, शिक्षा की हालत हमेशा खस्ता ही रही है और उन्होंने शिक्षा पर ज़रूरत से हमेशा कम निवेश किया है। लेकिन 2014 के बाद से प्रति वर्ष बजट में शिक्षा का हिस्सा कम से कमतर होता जा रहा है।

इसकी प्रमुख वजह समझना बहुत कठिन नहीं है। अन्य तमाम क्षेत्रों की तरह शिक्षा को भी निजी हाथों में पूरी तरह सौंपने के लिए मोदी सरकार तेज़ गति से आगे बढ़ रही है। एक ओर तो सरकारी शिक्षा संस्थानों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की फ़ीस बढ़ायी जा रही है और दूसरी ओर नये शिक्षकों की भर्ती न के बराबर हो रही है। शिक्षकों और कर्मचारियों को ठेके पर रखा जा रहा है। सरकार धीरे-धीरे शिक्षा की अपनी ज़िम्मेदारियों से पल्ला झाड़ रही है और पूँजीपति यहाँ भी खुलकर मुनाफ़ा पीट सकें, इसके लिए शिक्षा को उनके हवाले कर रही है। नयी शिक्षा नीति लागू होने से उच्च शिक्षा में निजीकरण की रफ़्तार और तेज़ गति से आगे बढ़ेगी और विदेशी पूँजीपतियों को भी शिक्षा के क्षेत्र में मुनाफ़ा कमाने के लिए आमन्त्रित किया जायेगा। मज़दूर-मेहनतकश आबादी तो वैसे भी उच्च शिक्षा से कोसों दूर है पर अब मध्य वर्ग के लिए भी शिक्षा हासिल करना कठिन हो जायेगा। हमारे देश में अच्छी प्राथमिक-माध्यमिक और उच्च-माध्यमिक शिक्षा पहले ही निजी हाथों में थी अब उच्च शिक्षा भी निजी हाथों में चली जायेगी और जा रही है। दोनों स्तरों पर शिक्षा के निजीकरण की वजह से देश में शिक्षा के स्तर को लेकर गम्भीर सवाल उठ खड़े हो रहे हैं। हमारे देश में साक्षरता का स्तर 74 प्रतिशत है लेकिन हम अच्छे से जानते हैं कि देश की एक बड़ी आबादी पढ़ने-लिखने में अक्षम है। ऐसे में शिक्षा में निवेश को कम करना देश की आम मेहनतकश जनता को अज्ञानता के अन्धकर में धकेलना है।

पहले एक नज़र शिक्षा के घटते बजट की ओर डाल लेते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि मोदी सरकार की शिक्षा को लेकर बड़ी-बड़ी लफ़्फ़ाज़ियों के पीछे की असली सच्चाई क्या है । मोदी सरकार के आने के पहले वर्ष 2014 में शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 0.63 प्रतिशत ख़र्च किया गया। यह पहले ही बहुत कम था। अगर इन दिनों बहुत से लोग बहुत अधिक भावुक हो रहे हैं। लेकिन 2014 की तुलना में भी 2023 में शिक्षा पर निवेश लगभग आधा रह गया है, जैसाकि नीचे तालिका से स्पष्ट है।

यह तालिका शिक्षा को लेकर मोदी सरकार की नीयत स्पष्ट करती है। शिक्षा सूचकांक के 191 देशों की तालिका में भारत 147 स्थान पर है। घाना और कीनिया जैसे अफ़्रीकी देश भी हमसे ऊपर हैं। ऐसे में जब कम से कम शिक्षा पर बजट का 15-16 प्रतिशत (जीडीपी का क़रीब 6 प्रतिशत जैसाकि भारत के पूँजीपति वर्ग ने बार-बार वायदा किया था) ख़र्च होना चाहिए था, वहाँ जीडीपी का सिर्फ़ 0.37 प्रतिशत ख़र्च हो रहा है। क्या यह देश की आम मेहनतकश आबादी के साथ किया गया मज़ाक नहीं है? लेकिन मोदी सरकार बस यही एक भद्दा मज़ाक नहीं कर रही है बल्कि रोज़गार, आवास और स्वास्थ्य सुविधाओं को भी लेकर मज़ाक के फुहारे छोड़ती रहती है। मोदी जी कभी पकोड़े तलने को रोज़गार कहते हैं और पढ़े-लिखे नौजवानों को चाट-पकोड़े का ठेला लगाने को कहते हैं तो कभी योग से सारे रोग दूर होने की बात करते हैं। मतलब अपनी ज़िम्मेदारियों से पूरा पल्ला झटक लेना और जनता को "आत्मनिर्भर" होने के उपदेश देना!

| वर्ष | जीडीपी के अनुपात में शिक्षा पर ख़र्च (प्रतिशत) |
|---|---|
| 2013-14 | 0.63 |
| 2014 -15 | 0.55 |
| 2015-16 | 0.49 |
| 2016-17 | 0.47 |
| 2017-18 | 0.47 |
| 2018-19 | 0.43 |
| 2019-20 | 0.45 |
| 2020-21 | 0.43 |
| 2021-22 | 0.34 |
| 2022-23 | 0.37 |

आपको याद हो कि तब काँग्रेस की सरकार थी। वही कांग्रेस जिसे लेकर

हम जानते हैं कि आत्मनिर्भर होने के नारे के पीछे की सच्चाई है सरकार का जनकल्याण के कामों से हाथ पीछे खींच लेना। एक रिपोर्ट के अनुसार कोविड के बाद से बच्चों में लिखने और पढ़ने के स्तर में गम्भीर गिरावट देखने में आयी है। शिक्षा की स्थिति पर वार्षिक रिपोर्ट 2020-22 (ऐनुअल स्टेटस ऑफ़ एजुकेशन रिपोर्ट) ने देश के लगभग सभी ग्रामीण ज़िलों का अध्ययन किया है। इस रिपोर्ट के अनुसार कोविड के बाद स्कूल के छात्रों में लिखने और पढ़ने की क्षमता में भारी गिरावट देखने में आयी है। बच्चे जिस कक्षा में पढ़ रहे हैं उनके पास उस कक्षा के स्तर का ज्ञान और लिखने-पढ़ने की क्षमता नहीं है। कुछ राज्यों जैसे बिहार और उत्तर प्रदेश इस मामले में पहले भी बेहद पीछे थे लेकिन कोविड के बाद यह स्थिति सभी राज्यों में बेहद ख़राब हुई है। ऐसे में शिक्षा का बजट कम करना देश की मज़दूर-मेहनतकश आबादी के साथ घोर अन्याय है।

अपने रोज़मर्रा के अनुभवों से हम मज़दूर-मेहनतकश यह बात समझते हैं कि शिक्षा कितनी ज़रूरी है। बैंक में पैसे जमा करने-निकालने, ट्रेन टिकट बनवाने, सरकारी योजनाओं में पंजीकरण करवाने, अस्पताल में दाखिला लेने, राशन कार्ड बनवाने, ड्राइविंग लाइसेंस, पहचान-पत्र बनवाने या ऐसे ही तमाम रोज़मर्रा के मामूली काम भी कितने कठिन और महँगे हो जाते हैं बस इसलिए कि हम कम पढ़े-लिखे होते हैं। विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र को चलाने का दावा करने वाली सरकार इस बात पर ज़रा भी अफ़सोस प्रकट नहीं करती कि शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, रोज़गार, प्रतिव्यक्ति आय आदि के मामलों में "विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश" की स्थिति बदहाल है। लोकतंत्र या जनवाद की असलियत हमेशा वर्गीय अर्थ में ही समझी जा सकती है। पूँजीवादी जनवाद अपने वर्ग चरित्र को छिपाता है और समानता का दावा करता है, लेकिन देश में अमीर-ग़रीब के बीच की खाई को देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल औपचारिक, क़ानूनी, कागज़ी समानता है। असल में तो देश के 166 अरबपतियों के पास देश के पूरे बजट से अधिक धन है। ऑक्सफ़ैम की एक रिपोर्ट के अनुसार देश की कुल 70 प्रतिशत आबादी के पास जितनी सम्पत्ति है उससे चार गुना से भी अधिक सम्पत्ति ऊपर की एक प्रतिशत आबादी के पास है। अमीर-ग़रीब की बढ़ती खाई के बीच यदि देश की व्यापक आबादी पढ़ी-लिखी होगी तो अपने हक-अधिकार के लिए ज्यादा दृढ़ता और आत्मविश्वास के साथ संघर्ष कर सकती है। फ़ासीवादी ताकतें वैसे भी अधिक से अधिक लोगों को अज्ञान के अन्धकार में रखना चाहती हैं। ऐसे लोगों को उन्मादी भीड़ में तब्दील करना ज़्यादा आसान होता है। इसलिए सिक्षा के बजट में लगातार हो रही कटौती फ़ासीवादी मोदी सरकार के आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही हितों से मेल खाती है।

## नेल्ली जनसंहार के चालीस वर्षों बाद : इतिहास का वह प्रेत आज भी जीवित है

(पेज 5 से आगे)

बढ़ता सामाजिक आधार इस आशंका को लगातार बनाये रखेगा कि नेल्ली जैसी कोई घटना वहाँ आगे भी घट सकती है। और फिर आज तो पूरी सत्ता और पूरा मीडिया और अधिक प्रभावी ढंग से फ़ासिस्ट हत्यारों की भीड़ के साथ खड़ा होगा। यह भी एकदम स्पष्ट है कि जबतक यह पूँजीवादी संसदीय व्यवस्था भारत में बनी रहेगी, नेल्ली का प्रेत लगातार मँडराता रहेगा, सिर्फ असम में ही नहीं, पूरे भारत में!

गुजरात-2002 से लेकर मुज़फ़्फ़रनगर और दिल्ली के दंगों तक अधिक उन्नत और राज्य-प्रायोजित रूपों में नेल्ली का अखिल भारतीय स्तर पर नये रूपों में विस्तार सहज ही देखा जा सकता है। फ़ासिस्टों द्वारा बुर्जुआ सूचना और संचार के तंत्र को पूरी तरह साध लेने के बाद अब ऐसी घटनाओं की भयावहता का लोगों को अहसास तक नहीं हो पाता, उनकी एक दूसरी ही तस्वीर लोगों के सामने पेश की जाती है और फिर यह भी होता है कि लोग जल्दी ही भयानक से भयानक घटना को भूलने लग जाते हैं। जो आम लोगों का शिकार करते हैं, वे स्मृतियों और मानवीय संवेदनाओं का भी शिकार करते हैं। क्रान्तिकारी बदलाव की परियोजना का यह भी एक हिस्सा है कि हम भूलने की आदत से संघर्ष करें, अमानवीय स्थितियों और चीज़ों के आदी होते जाने की आदत के विरुद्ध संघर्ष करें, यथास्थिति का आदी होने से आम लोगों की मानसिकता का जो विमानवीकरण होता जाता है, उस प्रक्रिया के विरुद्ध संघर्ष करें!

## क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा !

(पेज 7 से आगे)

**राजनीतिक सिद्धान्तकार की भूमिका निभा रहा होता है। लेकिन एक वर्ग के तौर पर समूचा मज़दूर वर्ग स्वतःस्फूर्त रूप से ऐसी चेतना, यानी कि राजनीतिक वर्ग चेतना, समाजवादी चेतना, को जन्म नहीं दे सकता है।** यह समाजवादी चेतना मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में बाहर से ही आती है और यह चेतना इतिहास की वैज्ञानिक समझदारी के साथ मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार के मेल से पैदा होती है। इस पर हम विस्तृत चर्चा अगले अंक में करेंगे।

स्वतःस्फूर्तता और सचेतना के द्वन्द्व को रेखांकित करते हुए लेनिन कहते हैं कि अर्थवादी रुझान की बुनियादी ग़लती यह है कि वह स्वतःस्फूर्तता की पूजा करती है और यह नहीं समझती है कि जनता की स्वतःस्फूर्तता दरअसल सामाजिक-जनवादियों से और अधिक सचेतनता की माँग करती है। जनसमुदायों में जितना ही अधिक स्वतःस्फूर्त उभार होता है, आन्दोलन का विस्तार जितना ही बढ़ जाता है, सामजिक-जनवाद के सैद्धान्तिक, राजनीतिक, सांगठनिक कामों में चेतना की माँग उतनी ही अधिक अतुलनीय द्रुत गति से बढ़ जाती है। स्वतःस्फूर्तता पर अर्थवादियों का ज़ोर अन्त में इस मंज़िल तक जाता है कि वह किसी भी प्रकार के राजनीतिक हिरावल की भूमिका को ही नकारने लगते हैं क्योंकि उनकी दलील ही यह है कि सर्वहारा वर्ग की आर्थिक कार्रवाइयाँ जैसे कि ट्रेड यूनियन गतिविधियाँ और हड़तालें अन्ततः उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार कर देती हैं, जैसी कि हमने ऊपर चर्चा भी की थी।

अर्थवादियों के विरुद्ध लेनिन द्वारा चलाये गये विचारधारात्मक संघर्ष में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच होने वाले विभाजन के बीज थे। 1903 में बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच विभाजन हुआ और इस विभाजन के मूल व केन्द्रीय मुद्दे वास्तव में स्वतःस्फूर्तता और सचेतनता का प्रश्न, कम्युनिस्ट पार्टी की ज़रूरत और उसके सांगठनिक उसूल व ढाँचे, सदस्यता की शर्तें आदि के प्रश्न थे। **'क्या करें?'** में इस बहस को लेनिन ने निर्णायक तौर पर मुक़ाम पर पहुँचाया और उसकी राजनीतिक परिणति 1903 की पार्टी कांग्रेस में हुई।

**'क्या करें?'** में लेनिन ने स्वतःस्फूर्ततावाद और पुछल्लेवाद की जो आलोचना प्रस्तुत की वह हमारे लिए आज भी मार्गदर्शन का काम करती है। जिस प्रकार के नारे व प्रवचन अर्थवादियों द्वारा उस दौर में रूस में दिये जा रहे थे आज भी वैसी ही अनर्गल मगर ख़तरनाक बातें मज़दूर आन्दोलन के भीतर तमाम क़िस्म की ग़ैर-सर्वहारा विचारधाराओं द्वारा की जा रही हैं। इसलिए आज भी मज़दूर वर्ग को अर्थवाद के विरुद्ध चले इस संघर्ष को जानने और समझने की ज़रूरत है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्थवाद के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष के ज़रिये ही लेनिन ने मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्त की हिफ़ाज़त की थी और उसे विकसित भी किया था। इसके साथ ही उन्होंने हिरावल/बोल्शेविक पार्टी के लेनिनवादी सिद्धान्त को भी प्रतिपादित करने का महत्वपूर्ण काम किया। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार ट्रेड यूनियनवादी और सामाजिक-जनवादी/कम्युनिस्ट राजनीति के बीच की विभाजक रेखा को स्पष्ट करते हुए लेनिन ने मज़दूर आन्दोलन के भीतर सर्वहारावर्गीय लाइन को स्थापित किया। इस बिन्दु पर हम अगले अंक में विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

*(अगले अंक में जारी)*

# मज़दूर आन्दोलन में मौजूद किन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का लड़ना ज़रूरी है?

## 1. क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

**(दूसरी किस्त)**

**– शिवानी**

इस श्रृंखला के पहले भाग में हमने मज़दूर आन्दोलन के भीतर मौजूद सबसे नुक़सानदेह प्रवृत्ति यानी कि अर्थवाद की प्रवृत्ति के विषय में कुछ महत्वपूर्ण बातें पाठकों के समक्ष रखी थीं। हमने जाना था कि किस प्रकार अर्थवाद की प्रवृत्ति के चलते महज़ आर्थिक संघर्ष यानी वेतन-भत्ते और बेहतर कार्यस्थितियों के लिए संघर्ष ही, समस्त मज़दूर आन्दोलन का क्षितिज बना दिया जाता है और यह भ्रामक धारणा भी मज़दूरों के बीच पैठती जाती है कि मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक चेतना स्वतःस्फूर्त तरीक़े से इन्हीं आर्थिक संघर्षों मात्र से पैदा हो जायेगी। हमने इसका उल्लेख भी किया था कि अर्थवाद के कारण कैसे मज़दूर वर्ग राजनीतिक प्रश्न उठाने में, जिसमें राजनीतिक सत्ता का प्रश्न सर्वोपरि है, असमर्थ हो जाता है और केवल वेतन-भत्तों-सहूलियतों की लड़ाई के गोल चक्कर में उलझ जाता है। यह एक मूलभूत लेनिनवादी शिक्षा है कि मज़दूर वर्ग एक राजनीतिक वर्ग के तौर पर संघटित और संगठित हो ही नहीं सकता है अगर उसके संघर्ष का क्षितिज केवल आर्थिक माँगों तक सीमित रहेगा। हमने यह भी स्पष्ट किया था कि इसका मतलब यह नहीं होता है कि मज़दूर वर्ग आर्थिक माँगों की लड़ाई नहीं लड़ेगा, बल्कि इसका अर्थ केवल इतना है कि इन आर्थिक संघर्षों को भी वह राजनीतिक तौर पर लड़ेगा और सर्वहारा राज्य की स्थापना हेतु अपने दूरगामी लक्ष्य के मद्देनज़र लड़ेगा। हमने अर्थवाद के दोनों संस्करणों यानी दक्षिणपंथी अवसरवाद के रूप में संशोधनवादी पार्टियों से जुड़ी ट्रेड यूनियनों की अर्थवादी राजनीति और व्यवहार और जुझारू "वामपंथी" अर्थवाद के तौर पर भारत के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठनों की राजनीति और व्यवहार पर भी संक्षिप्त चर्चा की थी। इसके बाद हमने रूस में सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक लेनिन द्वारा अर्थवाद के विरुद्ध चलाये गये विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्ष का एक संक्षिप्त ब्योरा भी प्रस्तुत किया था जिसे लेनिन के 1899 से 1903 के सैद्धान्तिक लेखन में देखा जा सकता है।

1902 में लेनिन की प्रसिद्ध रचना **'क्या करें?'** प्रकाशित हुई। इस रचना में लेनिन ने अर्थवाद के विचारधारात्मक अन्तर्य पर चोट करते हुए दिखलाया कि किस प्रकार अर्थवाद मार्क्सवाद को विकृत करने वाली एक बुर्जुआ विचारधारा है जो मज़दूर आन्दोलन में घुसपैठ के ज़रिये मज़दूर वर्ग को एक राजनीतिक वर्ग बनने से रोकती है, यानी कि एक ऐसा वर्ग बनने से रोकती है जिसकी अपनी एक राजनीतिक परियोजना हो। **अर्थवादी राजनीति और व्यवहार की अभिलाक्षणिकता है इसके द्वारा मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्षों को सर्वोपरि मानना और सचेतनता और विचारधारा के स्थान पर मज़दूर वर्ग की स्वतःस्फूर्तता की पूजा करना। 'क्या करें?'** में लेनिन ने इन्हीं दोनों बातों पर हमला बोला। बताते चलें कि **'क्या करें?'** में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत विचारों का एक ख़ाका लेनिन ने 1901 के अपने लेख **'कहाँ से शुरू करें?'** में पेश किया था और अर्थवादी रुझान के ख़तरे के विषय में इस लेख में इंगित भी किया था। लेनिन लिखते हैं, *"एक तरफ़ तो लुप्त होने से कोसों दूर **अर्थवादी प्रवृत्ति** राजनीतिक संगठन और आन्दोलन के काम को जकड़ने तथा संकुचित बनाने की कोशिश कर रही है। दूसरी तरफ़, सिद्धान्तहीन सार-संग्रहवादी प्रवृत्ति फिर से सिर उठा रही है, जो हर नयी "प्रवृत्ति" की भोंडी नक़ल करती है और जो पूरे के पूरे आन्दोलन के मुख्य कार्यभारों तथा स्थायी आवश्यकताओं और तात्कालिक माँगों के बीच भेद करने में असमर्थ है। इस प्रवृत्ति ने, जैसा कि हम जानते हैं, 'राबोचाया द्येलो' में अपना अड्डा जमा लिया है।"*

इसी लेख में पहली बार लेनिन ने मज़दूर वर्ग के राजनीतिक अख़बार की अहमियत को भी रेखांकित किया था और बताया था कि ऐसा *"अख़बार केवल सामूहिक प्रचारक और सामूहिक आन्दोलनकर्ता ही नहीं होता, बल्कि वह सामूहिक संगठनकर्ता भी होता है।"* देखें लेनिन क्या लिखते हैं:

*"हमारी राय में गतिविधियों का प्रस्थान-बिन्दु, वांछित संगठन के निर्माण की दिशा में पहला व्यावहारिक क़दम, या कहें कि वह मुख्य सूत्र जिसे पकड़कर हम उस संगठन को निरन्तरतापूर्वक विकसित कर सकते हैं, गहरा बना सकते हैं और फैला सकते हैं, एक अखिल रूसी राजनीतिक अख़बार की स्थापना होनी चाहिए। हमें सबसे ज़्यादा एक अख़बार की ज़रूरत है जिसके बिना उसूल में सुसंगत, व्यवस्थित और सर्वतोमुखी प्रचार और उद्वेलन के काम को नहीं चलाया जा सकता है, जो आम तौर पर सामाजिक-जनवाद का स्थायी कार्यभार है तथा मुख्य और ख़ास तौर पर वर्तमान समय में तात्कालिक कार्यभार है जबकि जनसमुदाय के अधिकतम विस्तृत तबक़ों में राजनीति के प्रति, समाजवाद के सवालों के प्रति रुचि जागृत हो उठी है। वैयक्तिक कार्य, स्थानीय पर्चों, पैम्फलेटों आदि के रूप में चलते हुए बिखरे आन्दोलन को व्यापक तथा नियमित आन्दोलन द्वारा परिवर्द्धित करने, जो कि निश्चित समय पर निकलने वाले अख़बारों की सहायता से ही किया जा सकता है, की ज़रूरत जितने ज़ोरदार ढंग से आज महसूस की जा रही है, उतनी और कभी नहीं की गयी। बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि अख़बार के प्रकाशन (और वितरण) की बारम्बारता तथा नियमितता इस बात को जानने का सबसे सटीक पैमाना बन सकती है कि हमारी जुझारू सरगर्मियों की इस सबसे शुरुआती और सबसे आवश्यक शाखा का निर्माण कितने ठोस ढंग से हुआ है।"*

जहाँ तक लेनिन की कृति **'क्या करें?'** का प्रश्न है तो यह रचना अर्थवाद के ख़िलाफ़ शुरू किये गये संघर्ष का शीर्ष थी और अर्थवादी राजनीति की जड़ों पर सबसे शानदार विचारधारात्मक हमला थी। रूसी अर्थवादियों की ख़ासियत यह थी कि वे राजनीति और अर्थनीति के बीच 'चीन की दीवार' खड़ी कर देते थे जिसके अनुसार आम मज़दूरों का राजनीतिक मसलों से कोई सरोकार या उनमें कोई दिलचस्पी ही नहीं थी। अर्थवादियों का मत था कि मज़दूर तो केवल आर्थिक संघर्षों के लिए ही एकजुट हो सकते थे और राजनीतिक संघर्ष से उनका कोई लेना-देना नहीं था। दरअसल अर्थवाद मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और वर्ग संघर्ष को एक प्रकार के ट्रेड यूनियनवाद और छोटे-छोटे धीरे-धीरे होने वाले सुधारों के "यथार्थवादी" संघर्ष तक ही घटा डालता था। अर्थवाद की मूल राजनीतिक प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए लेनिन **'क्या करें?'** में लिखते हैं कि अर्थवादियों का मानना था कि *"मज़दूर आर्थिक संघर्ष (ट्रेड यूनियन संघर्ष कहना ज़्यादा सही होगा, क्योंकि मज़दूर वर्ग की ख़ास राजनीति भी उसमें आ जाती है) चलाते रहें और मार्क्सवादी बुद्धिजीवी राजनीतिक "संघर्ष" चलाने के लिए उदारपंथियों के साथ मिल जायें।"* इसके विपरीत लेनिन का मानना था कि मज़दूर वर्ग की पूरी राजनीति को ट्रेड यूनियन की राजनीति तक सीमित कर देना वास्तव में मज़दूर वर्ग की राजनीति के एक पूँजीवादी संस्करण की बात करना होगा और यह मज़दूर आन्दोलन में बुर्जुआ नीति को लागू करने के समान है। लेनिन के लिए आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों के बीच कोई 'चीन की दीवार' नहीं थी, क्योंकि उनके लिए हर आर्थिक संघर्ष भी मूलतः राजनीतिक ही था।

### अर्थवादियों की स्वतःस्फूर्तता बनाम कम्युनिस्टों की सचेतनता

सबसे पहले लेनिन अपनी पुस्तक **'क्या करें?'** में अर्थवादियों की स्वतःस्फूर्तता के प्रति अन्धभक्ति और राजनीतिक चेतना के प्रति दुराव को आड़े हाथों लेते हैं। रूस में मज़दूर आन्दोलन का एक संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए लेनिन बताते हैं कि एकदम शुद्ध स्वतःस्फूर्त तरीक़े से "उपद्रवों" की कार्रवाइयों के बाद मज़दूर वर्ग ने एक हद तक "सचेतनता" के क्षेत्र में प्रवेश किया था। लेनिन लिखते हैं, *"उपद्रव जबकि पीड़ितों के विद्रोह मात्र थे, सुनियोजित हड़तालें बीज-रूप में वर्ग संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती थीं, पर केवल बीज-रूप में। अपने में ये हड़तालें महज़ ट्रेड-यूनियन संघर्षों की गिनती में आती थीं और अभी सामाजिक-जनवादी संघर्षों का रूप धारण नहीं कर पायी थीं।"*

रूसी अर्थवादी मज़दूरों की स्वतःस्फूर्तता की पूजा करते हुए जिस क़िस्म के नारे दे रहे थे, उस क़िस्म के नारे अक्सर हमारे यहाँ के मज़दूर आन्दोलनों में 'मज़दूर सहयोग केन्द्र'-मार्का जुझारू अर्थवादी संगठन देते हुए पाये जाते हैं! देखें लेनिन क्या लिखते हैं: *"बजाय यह नारा बुलन्द करने के कि आगे बढ़ो, क्रान्तिकारी संगठन को मज़बूत बनाओ और राजनीतिक काम को और फैलाओ, **पीछे हटने का**, शुद्ध ट्रेड यूनियन संघर्ष तक ही अपने को सीमित रखने का नारा बुलन्द किया गया। ऐलान किया गया कि "राजनीतिक लक्ष्य को कभी न भूलने के प्रयत्न में आन्दोलन का आर्थिक आधार पृष्ठभूमि में चला जाता है", कि मज़दूर आन्दोलन का मुख्य नारा यह है कि "आर्थिक परिस्थितियों के लिए लड़ो" (!) या इससे भी बेहतर यह कि "मज़दूरों के साथी मज़दूर हैं"।"* लेनिन के अनुसार इस दौर में राजनीतिक चेतना पर स्वतःस्फूर्तता ने पूरी तरह से क़ाबू पा लिया था। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि कैसे यह अर्थवादी सोच मज़दूर वर्ग से उसका क्रान्तिकारी अभिकरण यानी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी विचारधारा से लैस हिरावल कम्युनिस्ट पार्टी की वांछनीयता और अनिवार्यता की समझदारी ही छीन लेती है। लेनिन दो-टूक शब्दों में कहते हैं कि *"जो कोई भी मज़दूर आन्दोलन की स्वतःस्फूर्तता की पूजा करता है, जो कोई भी "सचेतन तत्व" की भूमिका को, सामाजिक-जनवाद की भूमिका को कम करके आँकता है, **वह चाहे ऐसा करना चाहता हो या न चाहता हो, पर असल में वह मज़दूरों पर बुर्जुआ विचारधारा के असर को मज़बूत करता है।"*** वास्तव में, अर्थवाद की विचारधारा मज़दूर वर्ग और उसके हिरावल यानी कि कम्युनिस्ट पार्टी के बीच ही दरार पैदा करने का काम करती है और ज़ाहिरा तौर पर ऐसी सोच मालिकों के वर्ग को ही फ़ायदा पहुँचाने का काम करती है।

लेनिन ने अर्थवाद का खण्डन करते हुए बार-बार दुहराया कि विचारधारा का प्रवेश मज़दूर आन्दोलन में बाहर से होता है और यह भी कि आम मज़दूरों द्वारा अपने आन्दोलन की प्रक्रिया के दौरान विकसित किसी "स्वतन्त्र" विचारधारा का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता है, इसलिए केवल दो ही रास्ते बचते हैं, या तो बुर्जुआ विचारधारा को चुना जाये या फिर समाजवादी विचारधारा को चुना जाये। बीच का कोई रास्ता नहीं है क्योंकि *"मानव-जाति ने कोई "तीसरी" विचारधारा पैदा नहीं की है, और इसके अलावा जो समाज वर्ग अन्तरविरोधों के कारण बँटा हुआ है, उसमें कोई ग़ैर-वर्गीय या वर्गोपरि विचारधारा कभी नहीं हो सकती। इसलिए समाजवादी विचारधारा के महत्व को किसी भी तरह कम करके आँकने, उससे ज़रा भी मुँह मोड़ने का मतलब बुर्जुआ विचारधारा को मज़बूत करना होता है।"* लेनिन स्पष्ट शब्दों में इंगित करते हैं कि मज़दूर आन्दोलन में स्वतःस्फूर्तता का परिणाम यह होता है कि आन्दोलन बुर्जुआ विचारधारा के अधीन हो जाता है क्योंकि स्वयंस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन ट्रेड-यूनियनवाद होता है और ट्रेड-यूनियनवाद का मतलब मज़दूरों को विचारधारा के मामले में बुर्जुआ वर्ग का दास बनाकर रखना होता है। लेनिन यह भी बताते हैं कि चूँकि उत्पत्ति की दृष्टि से बुर्जुआ विचारधारा समाजवादी विचारधारा से बहुत पुरानी है, अधिक विकसित है और उसे फैलने के लिए कहीं अधिक सुविधाएँ मिली हुई हैं इसलिए मज़दूर आन्दोलन के भीतर उसका प्रभुत्व आसानी से हो जाता है। और किसी देश का समाजवादी आन्दोलन जितना नया हो, उसे ग़ैर-समाजवादी विचारधाराओं की जड़ों को मज़बूत करने की तमाम कोशिशों के ख़िलाफ़ उतने ही ज़्यादा ज़ोर से लड़ना चाहिए और उतनी ही दृढ़ता से मज़दूरों को उन बुरे सलाहकारों के ख़िलाफ़ आगाह करना चाहिए जो "सचेतन तत्व का मूल्य अधिक आँकने", आदि के ख़िलाफ़ चिल्लाया करते हैं। इसलिए, लेनिन कहते हैं कि *"हमारा कार्यभार, सामाजिक-जनवादियों का कार्यभार है **स्वतःस्फूर्तता के ख़िलाफ़ लड़ना**, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के उस स्वयंस्फूर्त ट्रेड-यूनियनवादी रुझान को, जो उसे बुर्जुआ वर्ग के साये में ले जाता है, मोड़ना और उसे क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के साये में लाना।"*

ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है कि मज़दूर वर्ग के भीतर राजनीतिक चेतना स्वतःस्फूर्त रूप से नहीं पैदा होती है, बल्कि उसमें इस चेतना को पैदा करना एक हिरावल का सचेतन कार्यभार होता है। लेनिन का मानना था कि एक सामाजिक-जनवादी यानी कि कम्युनिस्ट की चेतना महज़ एक ट्रेड यूनियन सचिव की नहीं होती, बल्कि मज़दूर वर्ग और आम जनसमुदायों के हिरावल की होती है। लेनिन का यह भी मानना था कि राजनीतिक चेतना मज़दूर वर्ग के भीतर आर्थिक संघर्षों के तीव्र होते जाने से स्वयं ही नहीं पैदा हो जायेगी। किसी बाह्य राजनीतिक अभिकर्ता (यानी, सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों या कम्युनिस्ट पार्टी) के हस्तक्षेप के बिना मज़दूर वर्ग अपने आप केवल ट्रेड यूनियन चेतना तक ही पैदा कर सकता है। इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि मज़दूर वर्ग अपने राजनीतिक सिद्धान्तकार नहीं पैदा कर सकता था। **यहाँ लेनिन ने स्पष्ट किया कि एक मज़दूर जब आर्थिक संघर्षों से अलग मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक दूरगामी राजनीतिक लक्ष्यों की बात करता है तो वास्तव में वह महज़ एक सामान्य मज़दूर नहीं होता बल्कि मज़दूर वर्ग के**

**(पेज 6 पर जारी)**

# फ़ासीवाद को परास्त करने के लिए सर्वहारा रणनीति पर कुछ ज़रूरी बातें

(पेज 1 से आगे)

## 2024 के लोकसभा चुनावों में फ़ासीवादियों का पलड़ा भारी होने की मुख्य वजहें

### *1. पहली बुनियादी ढाँचागत वजह*

सबसे पहली वजह एक वस्तुगत ढाँचागत वजह है और इसके दो आयाम हैं। पहला आयाम है पूरे पूँजीवादी विश्व में हावी पूँजीवादी आर्थिक संकट जिसके कि 2023-24 में और ज़्यादा गहराने की गुंजाइश है। तमाम पूँजीवादी एजेंसियाँ और अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ यह घोषणा कर चुकी हैं कि पिछले डेढ़ दशक से जारी मन्दी और ठहराव की प्रक्रिया अभी जाने वाली नहीं है, बल्कि 2023 और 2024 में इसके गहराने की सम्भावना है। भारत न तो अभी इस संकट से अछूता है और न ही भविष्य में रहने वाला है। **संकट अपने आप में दोनों सम्भावनाएँ रखता है :** यह पूँजीवादी राज्यसत्ता के राजनीतिक संकट और फिर ज़रूरी शर्तें पूरी होने पर क्रान्तिकारी परिवर्तन की ओर, एक नयी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की ओर, यानी सर्वहारा वर्ग के शासन और समाजवाद की स्थापना की ओर भी जा सकता है; और, ज़रूरी शर्तें पूरी न होने पर यह प्रतिक्रियावाद के किसी रूप जैसे कि फ़ासीवाद के उभार की ओर भी जा सकता है। यही सवाल हमें मौजूदा वस्तुगत संकट के दूसरे पहलू पर लाता है। **वे ज़रूरी शर्तें क्या हैं?** वे ज़रूरी शर्तें हैं: सर्वहारा वर्ग की एक हिरावल पार्टी की देश-स्तर पर मौजूदगी, मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों तक उसकी पहुँच और पकड़, जनता के व्यापक जनसमुदायों में उसकी पहुँच और पकड़, उपरोक्त कारकों के आधार पर एक देशव्यापी क्रान्तिकारी जनान्दोलन की मौजूदगी जिसकी अगुवाई सर्वहारा वर्ग की मज़दूर पार्टी कर रही हो, और साथ ही राजनीतिक संकट का इस हद तक गहराना कि शासक वर्ग अपने शासन को जारी रखने में अक्षम हो जाये, जो तभी होता है जबकि पूँजीवादी राज्यसत्ता के अंगों-उपांगों को लकवा मार जाता है। ऐसा ही कुछ साल पहले मिस्र में और अभी हाल ही में एक हद तक श्रीलंका में हुआ था। इनमें से पहली तीन शर्तें मनोगत कारकों यानी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण और गठन पर निर्भर करती हैं, और आख़िरी शर्त एक वस्तुगत कारक है, जो आम तौर पर राजनीतिक संकट के दौर में विकसित हो जाता है।

**इसलिए आर्थिक संकट के दौर में यदि कोई क्रान्तिकारी विकल्प, कोई क्रान्तिकारी पार्टी, एक क्रान्तिकारी जनान्दोलन मौजूद न हो, तो वह आम तौर पर, प्रतिक्रिया की ताक़तों की मदद करता है, और अक्सर उन्हें सत्ता में भी पहुँचाता है।** ऐसा कई देशों में हुआ है और हो रहा है और हमारे देश में 2014 में मोदी के सत्ता में आने के साथ यही हुआ था। वजह यह है कि आर्थिक संकट के दौर में निम्नमध्यवर्ग, मध्यवर्ग, संगठित सफ़ेद कॉलर वाला मज़दूर वर्ग अधिक से अधिक असुरक्षा और अनिश्चितता के शिकार बनते हैं और उनके बीच एक नक़ली शत्रु का भय और उससे ख़तरे का झूठा प्रचार करके फ़ासीवादी ताक़तें असली दुश्मन यानी पूँजीपति वर्ग और समूची पूँजीवादी व्यवस्था को बचाती हैं, मज़दूर आन्दोलन के ध्वंस के लिए टुटपुँजिया वर्गों का एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन या उभार खड़ा करती हैं, और जनता को धर्म, नस्ल, जाति, भाषा आदि की पहचानों के आधार पर तोड़कर सभी पर तानाशाहाना शासन क़ायम करती हैं। **आज यही हो रहा है।**

यह पहला वस्तुगत ढाँचागत कारक है जिसके **दो आयाम हैं : आर्थिक संकट व उससे पैदा होने वाली दोहरी सम्भावना और क्रान्तिकारी सम्भावना को हक़ीक़त में तब्दील करने वाली ताक़त, यानी एक क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी, का अभाव।** इसका नतीजा यह है कि फ़ासीवादियों का पलड़ा भारी है और उनका भविष्य उन्हें अच्छा नज़र आ रहा है।

इसी वस्तुगत सन्दर्भ से कई अन्य कारण पैदा होते हैं, जो आज भारत में और दुनियाभर में फ़ासीवादियों व अन्य जनविरोधी दक्षिणपंथी ताक़तों की मदद कर रहे हैं।

### *2. पूँजीपति वर्ग का फ़ासीवादियों को व्यापक आर्थिक व राजनीतिक समर्थन*

आर्थिक संकट में क्या होता है? आर्थिक संकट के दौरान समूची पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की औसत मुनाफ़े की दर गिरती है, जिसके कारण उत्पादक अर्थव्यवस्था में निवेश करने की दर में कमी आती है; नतीजतन, बेरोज़गारी बढ़ती है, पूँजीपति वर्ग में आपसी ख़रीद की भी कमी आती जाती है जिसका बड़ा हिस्सा उत्पादन के साधनों की ख़रीद से बनता है; नतीजतन, उत्पादन के साधन और उपभोग की वस्तुओं, दोनों की खपत में कमी आती है जिसमें से पहला ज़्यादा महत्वपूर्ण है; साथ ही, अतिउत्पादन और पूँजी का अतिसंचय भी प्रकट होता है और साथ ही आम मेहनतकश आबादी के बीच अल्पउपभोग भी। पूँजीपति शेयर बाज़ार व सट्टेबाज़ी में ज़्यादा निवेश करने लगते हैं जिससे शेयर बाज़ार में काल्पनिक पूँजी से पैदा हुआ उछाल नज़र आता है। ये पूँजीवादी आर्थिक संकट के प्रमुख कारण और प्रमुख लक्षण हैं। कारणों और लक्षणों में फ़र्क करना ज़रूरी होता है: **इसमें बुनियादी कारण है मुनाफ़े की औसत दर के गिरने की प्रवृत्ति जो कि पूँजीवादी व्यवस्था की एक पहचान है और उपरोक्त अन्य सभी लक्षणों को जन्म देती है।**

ज़ाहिर है, आर्थिक संकट से बिलबिला रहा पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की औसत दर को बढ़ाना चाहता है। यह तात्कालिक तौर पर केवल दो ही तरीके से सम्भव होता है और स्थायी तौर पर इस संकट से निपटने का पूँजीपति वर्ग के पास कोई रास्ता नहीं है। तात्कालिक रास्ते ये हैं : *पहला,* मज़दूरों के उपभोग में इस्तेमाल किये जाने वाले मालों को पैदा करने वाले उद्योग में उत्पादकता को बढ़ाकर मज़दूर की श्रमशक्ति के मूल्य को घटाना जिसके आधार पर मज़दूरी को घटाया जा सके और मुनाफ़े के मार्जिन को बढ़ाया जा सके। लेकिन इसकी एक सीमा होती है और पूँजीपति वर्ग मनमाने तरीके से हमेशा इसे अंजाम दे भी नहीं सकता है, क्योंकि मज़दूर वर्ग कोई निष्क्रिय शक्ति नहीं होता बल्कि ऐसे प्रयासों के विरुद्ध लड़ता है। *दूसरा तरीका,* मज़दूरों के कार्यदिवस को बढ़ाना और/या उनकी श्रम सघनता को बढ़ाना, यानी मशीनों आदि की गति बढ़ाकर, बीच के विरामों को ख़त्म कर उतने ही समय में मज़दूरों से ज़्यादा काम कराकर अधिक श्रम निचोड़ना। यह भी हमेशा सम्भव नहीं होता है और इसकी एक भौतिक सीमा भी होती है और मज़दूर वर्ग के संगठित आन्दोलन की मौजूदगी में यह मुश्किल होता है। मज़दूर वर्ग के संगठित प्रतिरोध के अभाव में पूँजीपति वर्ग अधिकतम सम्भव हद तक यह तरीका अपनाता है।

**लेकिन जब भी पूँजीपति वर्ग ऐसा रास्ता अपनाता है, तो व्यापक मेहनतकश जनता की ओर से उसका प्रतिरोध पैदा होने की सम्भावना भी मौजूद रहती है।** यह प्रतिरोध संगठित हो या या ग़ुस्से का स्वत:स्फूर्त विस्फोट, दोनों से ही पूँजीपति भयभीत होते हैं, यह बात दीगर है कि स्वत:स्फूर्त ग़ुस्से के विस्फोटों से निपटना उनके लिए ज़्यादा आसान होता है। बहरहाल, इन सम्भावनाओं के असलियत में तब्दील होने से पूँजीपति वर्ग हमेशा डरता है, क्योंकि उसे पता है कि आम मेहनतक़श आबादी जब एकजुट होकर प्रतिरोध करती है, तो पूँजीपतियों की सारी हेकड़ी और चौधराहट धरी की धरी रह जाती है। इस ख़तरे से निपटने के लिए पूँजीपति वर्ग बहुसंख्या में प्रतिक्रियावादी ताक़तों की शरण में भी जाता है और उन्हें शरण देता भी है। राजनीतिक तौर पर, वह उनकी शरण में जाता है और आर्थिक तौर पर वह उन्हें शरण देता है। यही वजह है कि आर्थिक संकट के पूरे दौर में समूची दुनिया में बहुत-से देशों में पूँजीपति वर्ग ने एकजुट होकर किसी धुर दक्षिणपंथी, फ़ासीवादी या सैन्य तानाशाहाना शक्तियों या सत्ताओं को समर्थन दिया है। **हमारे देश में भी 2014 और 2019 में यही हुआ है। 2014 से ही भाजपा पर सारे बड़े धन्नासेठ यूँ ही नोट नहीं बरसा रहे कि आज उसकी घोषित सम्पत्ति साढ़े चार हज़ार करोड़ रुपये के क़रीब पहुँच गयी है!**

चूँकि आर्थिक संकट जारी है, लिहाज़ा भारत में समूचे पूँजीपति वर्ग के बहुलांश का मोदी-शाह की सत्ता, भाजपा और संघ परिवार के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को खुला समर्थन जारी है। क्योंकि उन्हें एक "मज़बूत नेता" की ज़रूरत है, जो मज़बूती से पूँजीपतियों यानी मालिकों, ठेकेदारों, बिचौलियों, दलालों, धनी कुलकों व पूँजीवादी फार्मरों, समृद्ध दुकानदारों, बिल्डरों आदि के हितों की रखवाली करने के लिए आम मेहनतकश जनता पर लाठियाँ, गोलियाँ चलवा सके, उन्हें जेलों में डाल सके और इस सारे कुकर्म को "राष्ट्रवाद", "धर्म", "कर्तव्य", "सदाचार" और "संस्कार" की लफ़्फ़ाज़ियों और बकवास से ढँक सके। बाकी, भाजपाइयों व संघियों के "चाल, चेहरा, चरित्र" से तो समझदार लोग वाक़िफ़ हैं ही और जो नहीं हैं वह पिछले 9 सालों में लगातार राफ़ेल घोटाले, पीएम केयर फ़ण्ड घोटाले, भाजपाइयों द्वारा किये गये बलात्कारों, अडानी-हिण्डनबर्ग मसले और व्यापम घोटाले जैसी घटनाओं में देखते ही रहे हैं। "राष्ट्रवादी शुचिता, संस्कार और कर्तव्य" की भाजपाइयों और संघियों ने विशेषकर पिछले 9 सालों में तो मिसाल ही क़ायम कर दी है!

सारी पूँजीवादी एजेंसियाँ और पूँजीवादी अर्थशास्त्री बता चुके हैं कि 2023-24 में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का ठहराव और संकट टलने वाला नहीं है, बल्कि और ज़्यादा गहरा सकता है। ऐसे में, 2024 के आम चुनावों से पहले भी पूँजीपति वर्ग का बहुलांश एकजुट तौर पर अपनी आर्थिक शक्तिमत्ता का बटखरा मोदी के पलड़े में ही रखेगा, इसकी पूरी गुंजाइश है और इसके सारे संकेत भी अभी से ही नज़र आ रहे हैं। *मीडिया के मोदी सरकार की गोद में होने की भी असल वजह यही है, क्योंकि सारे बड़े मीडिया घराने आज देश के सबसे बड़े पूँजीपतियों के हाथों में हैं और पत्रकारों की मालिकों से स्वतन्त्रता पहले भी आदर्श रूप में कभी मौजूद नहीं थी, लेकिन आज तो वह एक भद्दा मज़ाक बन चुका है और कोई पत्रकार भी इसकी बात नहीं करता क्योंकि उसे डर होता है कि कहीं उसकी हँसी न छूट जाये!*

### *3. संघ का काडर-आधारित संगठन और उसकी फ़ासीवादी विचारधारा*

तीसरा बड़ा कारण है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का **काडर-आधारित ढाँचा** और **उसकी फ़ासीवादी विचारधारा।** इस विचारधारा व संगठन के प्रति इस काडर को बिना कोई सवाल किये वफ़ादारी के लिए व्यवस्थित तरीके से प्रशिक्षित किया जाता है। यह वह चीज़ है जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके चुनावी चेहरे भाजपा को पूँजीपतियों की अन्य सभी पार्टियों से अलग करती है। इस संगठन ने 1925 में स्थापना के बाद से अपने काडर ढाँचे का निर्माण जारी रखा है, जो उसने मुसोलिनी और हिटलर की पार्टियों से सीखा था। इसका सांगठनिक सिद्धान्त है संघ के नेता के प्रति प्रश्नेतर निष्ठा और वफ़ादारी। इसके अन्दर कोई जनवाद नहीं होता, नेतृत्व का कोई चुनाव नहीं होता। आन्तरिक तौर पर, यह जनवादी उसूलों से पूरी तरह रिक्त होता है। जनवाद का यह अभाव टुटपुँजिया वर्ग की उस प्रवृत्ति को ही तुष्ट और प्रदर्शित करता है, जिसे अपने जीवन की असुरक्षा के असली कारणों की पहचान न होने पर तानाशाही की ज़रूरत महसूस होती है।

**इसकी कट्टरतावादी विचारधारा है पूँजीवाद को बचाने के लिए जनता के सामने किसी अल्पसंख्यक आबादी को दुश्मन बनाकर पेश करना और पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी सारी समस्याओं के लिए उसे ज़िम्मेदार ठहराना।** मसलन, हिटलर ने यहूदियों के साथ यह किया था और भाजपा व संघ परिवार यही कृत्य मुख्य तौर पर मुसलमानों व गौण तौर पर अन्य अल्पसंख्यकों के साथ करते हैं। मक़सद यह है कि बहुसंख्यक समुदाय के टुटपुँजिया वर्गों की आबादी की प्रतिक्रिया और ग़ुस्से को इस नकली दुश्मन की ओर मोड़कर पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग की हिफ़ाज़त की जाये। फ़ासीवादी विचारधारा इसके लिए धार्मिक कट्टरपंथ, नस्ली कट्टरपंथ, अन्धराष्ट्रवाद जैसी मज़दूर-विरोधी विचारधाराओं का इस्तेमाल करती है, इतिहास का एक मिथकीय संस्करण रचती है, मिथकों को दुहरा-दुहराकर सच बनाती है और इसके लिए किसी एक समुदाय को व्यापक जनता के सामने पराया, बेग़ाना बना देती है और उसे "राष्ट्र", "धर्म" आदि के लिए ख़तरे के तौर पर पेश करती है। जैसे कि भाजपाई अक्सर कहते पाये जाते हैं कि "हिन्दू धर्म ख़तरे में है", "हिन्दू राष्ट्र ख़तरे में है", आदि। सैकड़ों साल पहले के झूठे अन्यायों का हवाला देकर कुण्ठित टुटपुँजिया जनमानस में धार्मिक उन्माद पैदा करने की कोशिशें की जाती है। ये फ़ासीवादी विचारधारा की कार्यपद्धति की कुछ ख़ासियतें होती हैं। लेकिन इसका असली लक्ष्य होता है टुटपुँजिया वर्गों के बीच धार्मिक उन्माद भड़काकर और एक साम्प्रदायिक आम सहमति बनाकर उनका एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करना, जिसके ज़रिये जनता के आन्दोलनों व एकजुटता पर हमला किया जाये, उसे तोड़ा जाये, ताकि पूँजीपति वर्ग के हितों की रखवाली की जा सके। **यानी, फ़ासीवाद का असली काम है टुटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रिया को पूँजीपति वर्ग के हितों की सेवा में सन्नद्ध कर देना, हालाँकि पूँजीपति वर्ग की लूट का शिकार स्वयं ये टुटपुँजिया वर्ग भी होते हैं।** लेकिन वे उन्माद और कट्टरता में बहकर अपने ही हितों के ख़िलाफ़ फ़ासीवादियों के पीछे चल पड़ते हैं और जब तक उन्हें होश आता है, तब तक अक्सर देर हो जाया करती है।

**फ़ासीवादी संगठन इन सारे कुकर्मों को एक काडर-आधारित अनुशासित ढाँचे से अंजाम देता है।** यह चीज़ फ़ासीवादियों के इतालवी पितामह बेनितो मुसोलिनी ने कम्युनिस्टों से चुरायी थी। यह मूलत: मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी

(पेज 9 पर जारी)

# फ़ासीवाद को परास्त करने के लिए सर्वहारा रणनीति पर कुछ ज़रूरी बातें

(पेज 8 से आगे)

संगठन का उसूल होता है, जिसे मुख्य तौर पर लेनिन ने व्यवस्थित किया था। फ़ासीवादियों ने काडर-आधारित संगठन के उसूल को फ़ासीवादी उद्देश्य, यानी बड़ी पूँजी की सेवा में टुटपुँजिया वर्गों के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन को सन्नद्ध करने के उद्देश्य, को पूरा करने के लिए अपना लिया। इसने फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टी को अन्य सभी पूँजीवादी पार्टियों से इस मायने में अलग कर दिया और आर्थिक संकट के दौर में पूँजीवाद की सेवा करने के मामले में उसे विशेष तौर पर सक्षम बना दिया। अपने इस ढाँचे के आधार पर ही आज भारत में संघ परिवार और भाजपा पूँजीपति वर्ग के लिए सबसे अहम बने हुए हैं, उनकी साज़िशों और चालों का जवाब कोई भी पूँजीवादी पार्टी जैसे कांग्रेस, सपा, राजद, राकांपा, द्रमुक आदि प्रभावी तरीक़े से नहीं दे पा रहे हैं, क्योंकि ये अन्य सभी पार्टियाँ किसी ठोस विचारधारात्मक बुनियाद पर और काडर-ढाँचे पर आधारित नहीं हैं, हालाँकि ऐसा नहीं कि उनकी कोई विचारधारा नहीं है। सभी पूँजीवादी पार्टियाँ कई पूँजीवादी विचारधाराओं के समुच्चय पर आधारित होती हैं। लेकिन यह एक ठोस, सजातीय विचारधारात्मक आधार नहीं होता है, जैसा कि फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टी के मामले में होता है।

### *4. टुटपुँजिया वर्गों का प्रतिक्रियावादी आन्दोलन यानी फ़ासीवाद का बाहुबल*

यह वह अगली वजह है जिसके कारण फ़ासीवादी ताक़तें आज हावी हैं। **पूँजीपति वर्ग की बहुसंख्या के ज़बर्दस्त आर्थिक समर्थन, फ़ासीवादी विचारधारा, काडर-आधारित ढाँचे के अलावा असुरक्षा व अनिश्चितता से ग्रस्त टुटपुँजिया वर्गों का प्रतिक्रियावादी उभार और विचारधारा में टुटपुँजियाकृत हो चुके लम्पट सर्वहाराओं की उन्माद में बह रही भीड़ फ़ासीवाद की पेशीय शक्ति व बाहुबल है, जिसके बूते आज वह जनता को आतंकित करता है।** बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद् जैसे साम्प्रदायिक आतंकी संगठन, गोरक्षा दल, लव जिहाद के विरुद्ध बनने वाले गिरोह और उनके पीछे चलने वाली उन्मादी साम्प्रदायिक भीड़ मज़दूर वर्ग के प्रतिरोध, संगठन और आन्दोलन और साथ ही अल्पसंख्यकों पर हमला बोलने के लिए ही हैं। हो सकता है कि कुछ मज़दूर साथियों को यह बात अजीब लगे कि हम इन संघी गुण्डा वाहिनियों को मज़दूर वर्ग के प्रतिरोध, संगठन और आन्दोलन के ख़िलाफ़ खड़ी फ़ासीवादी ताक़त बता रहे हैं। लेकिन जो भी मज़दूर साथी किसी औद्योगिक क्षेत्र आदि में किसी आन्दोलन का हिस्सा रह चुके हैं वे जानते हैं कि हम किस चीज़ की बात कर रहे हैं। हर जगह मज़दूर आन्दोलनों पर हमला करने वाले गुण्डों की ताक़त हिन्दू रक्षा दल, गोरक्षा दल, बजरंग दल, विहिप जैसे संगठनों से ही आती है। कहीं उनमें धनी किसान-कुलक, प्रॉपर्टी डीलर आदि व उनके गुण्डे होते हैं और अधिकांश मामलों में उनमें शहरी टुटपुँजिया वर्गों से आने वाली भीड़ भी शामिल होती है। हर इलाक़े में मालिक, बड़े ठेकेदार, बड़े व्यापारी इन आतंक वाहिनियों को पालते-पोसते हैं, इनके लिए जिम खुलवाते हैं या खोलते हैं, बाउंसर तैयार करवाते हैं, इन पर संसाधनों और पैसों की बारिश करते हैं। ये आपको स्कॉर्पियो, फार्च्यूनर, एण्डीवर टाइप विशाल गाड़ियों में अपनी चौधराहट का प्रदर्शन करते घूमते मिल जायेंगे। **ये दीगर बात है कि जब भी मज़दूर किसी इलाक़े में एकजुट होकर खड़े हो जाते हैं, तो इनकी सारी चौधराहट और हेकड़ी निकलते भी वक़्त नहीं लगता। दरअसल, इनके पास पैसे की ताक़त है, जिसका जवाब जनबल के आधार पर दिया जा सकता है, बशर्ते कि मज़दूर वर्ग ख़ुद संगठित हो और व्यापक मेहनतकश जनता को भी अपने पक्ष में जीते।**

इनकी ताक़त को तोड़ने के लिए सर्वहारा वर्ग के संगठन को व्यापक टुटपुँजिया यानी निम्न मध्य वर्ग और मँझोले मध्य वर्ग के बीच व्यापक क्रान्तिकारी प्रचार कार्य करना होगा, उनकी सामाजिक व आर्थिक असुरक्षा के लिए ज़िम्मेदार समूची पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग को उनके सामने बेनक़ाब करना होगा, उनके बीच सच्चे जनवाद और सेक्युलरिज़्म का प्रचार करना होगा और उनके बीच व्यापक सुधार कार्य करना होगा। यह फ़ासीवादी शक्तियों के पैरों के नीचे से ज़मीन खींचने के समान होगा। वे जनता के बीच के ही एक वर्ग, यानी निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग को बरगलाकर मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के प्रतिभार, उसके जवाब के तौर पर बड़ी पूँजी की सेवा में सन्नद्ध टुटपुँजिया वर्गों का एक उभार खड़ा करते हैं। मज़दूर वर्ग को जनता के इस वर्ग के बीच अपने आधार को विकसित करना होगा। **इसके लिए स्वयं मज़दूर वर्ग के आन्दोलन से अर्थवाद और मज़दूरवाद का सफ़ाया करना बेहद ज़रूरी है,** जो कि मज़दूर वर्ग को अपने *तात्कालिक विशिष्ट आर्थिक हितों* को प्रधानता देने को मजबूर करता है और अपने *दूरगामी सामान्य राजनीतिक हितों* को तिलांजलि देने को बाध्य करता है। इसके कारण, सर्वहारा वर्ग समूची मेहनतकश जनता का राजनीतिक नेतृत्व अर्जित करने में अक्षम हो जाता है। आज देश में यही हो रहा है। यह भी फ़ासीवादी शक्तियों के हावी होने का एक कारण है।

### *5. पूँजीवादी राज्यसत्ता के निकायों और संस्थाओं में संघ परिवार की घुसपैठ*

यह पाँचवाँ प्रमुख कारण है जिससे कि आज भाजपा के लिए चुनावी मैदान में भी हावी होना आसान है। आर.एस.एस. ने आज़ादी के पहले से ही राज्यसत्ता के निकायों में अपने तत्वों को घुसाना और फिर आज़ादी के बाद विशेष तौर पर 1950 के दशक से समूचे राजकीय तन्त्र और उसकी संस्थाओं में अपने तत्वों को घुसाना व्यवस्थित तरीक़े से जारी रखा है। चाहे वह पुलिस हो, सेना हो, न्यायपालिका हो या नौकरशाही हो। संघी तत्व आपको हर जगह मिल जायेंगे। 1998 से 2004 तक भाजपा-नीत गठबन्धन सरकार के दौरान, भाजपा-शासित तमाम राज्यों में और विशेष तौर पर 2014 में नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद से यह प्रक्रिया और भी तेज़ी से चली है।

इसने समूची राज्यसत्ता का विचारणीय हद तक फ़ासीवादीकरण किया है। राज्यसत्ता के तमाम अंगों-उपांगों के ज़रिये ही राज्यसत्ता अपने प्रकार्य पूरे करती है। यदि वह पूरा ढाँचा ही फ़ासीवादी तत्वों के नियन्त्रण में हो, तो उनके लिए अपने मंसूबों को अंजाम देना बेहद आसान हो जाता है। फ़ासीवादी तत्व बिना किसी सज़ा के डर के समाज में दहशतगर्दी कर सकते हैं, जैसा कि आज वे कर भी रहे हैं। मसलन, गोरक्षा के नाम पर की जा रही बेगुनाहों की हत्याएँ, लव जिहाद आदि के नाम पर प्रेमी जोड़ों का किया जा रहा उत्पीड़न, भाजपाई नेताओं आदि द्वारा किये जा रहे भ्रष्टाचार और बलात्कार जैसी घटनाएँ। इन पर भाजपाइयों को या तो सज़ा ही नहीं मिलती या फिर दिखावे के लिए कुछ दिन जेल में फाइव-स्टार ऐशो-आराम के साथ रखा जाता है और फिर छोड़ दिया जाता है। बाक़ायदा, अदालत से सज़ा पाये हुए गुजरात दंगों के बलात्कारियों व हत्यारों तक को छोड़ दिया जा रहा है। तो आप समझ ही सकते हैं कि पूँजीवादी मानकों से भी देश में न्याय, क़ानून और व्यवस्था का क्या मतलब रह गया है।

**लेकिन यही चीज़ समूची पूँजीवादी राज्यसत्ता के वर्चस्व को भी कमज़ोर बना रही है, जिसमें कि लोगों द्वारा राज्यसत्ता के प्राधिकार को स्वीकार करने की सहमति स्वयं लोगों के मस्तिष्क में निर्मित की जाती रही है।** आज जनता से ली गयी सहमति के पीछे डर की एक अहम भूमिका हो गयी है। ऐसे में, लोगों के सब्र का प्याला जब छलकता है, तो वह किसी विस्फोट को जन्म देता है। यदि ऐसे में कोई क्रान्तिकारी संगठन उसे नेतृत्व देकर ऊर्जा के इस प्रस्फुटन को व्यवस्था को बदलने की ताक़त दे सके, सही दिशा दे सके तो वह सामाजिक परिवर्तन की ओर जा सकता है। लेकिन ऐसा नहीं होने पर भी हुक्मरानों को जनता के ग़ुस्से के इस प्रकार फट पड़ने का डर सताता रहता है। इसलिए राज्यसत्ता पर फ़ासीवादी शक्तियों द्वारा भीतर से कब्ज़ा कर लिया जाना भी कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो कि उनके शासन को स्थायी बनाती हो। तात्कालिक तौर पर, जनसंघर्षों के लिए अवश्य वह चुनौतियाँ खड़ी करती है।

## फ़ासीवादी उभार के निर्णायक प्रतिरोध के लिए

**फ़ासीवाद मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता जैसे कि अर्द्धसर्वहारा, ग़रीब किसान, निम्न मध्यवर्ग आदि का सबसे बड़ा दुश्मन है।** दुनिया का इतिहास गवाह है कि जहाँ कहीं भी यह सत्ता में आया है, उसने इन वर्गों के आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों पर सबसे आक्रामक तरीक़े से हमला किया है। यह दीगर बात है कि निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग के ही एक विचारणीय हिस्से को धार्मिक, नस्ली व राष्ट्रवादी उन्माद पर भड़काकर यह एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन खड़ा करता है, जिसके ज़रिये वह मज़दूर वर्ग व आम मेहनतकश आबादी के आन्दोलनों पर हमले करने, उन्हें आतंकित करने, अल्पसंख्यकों को लगातार डर के साये में जीने को मजबूर करता है। जब तक निम्न मध्यवर्ग की आबादी में इस बात का अहसास पैदा होता है कि वास्तव में ये "धर्मध्वजाधारी", "संस्कारी", "संस्कृति के रक्षक", "राष्ट्रवादी" उन्हीं के हितों के दुश्मन हैं, अव्वल दर्जे के मुनाफ़ाख़ोर, भ्रष्टाचारी, दुराचारी, अपराधी और बलात्कारी हैं, तब तक काफ़ी नुक़सान हो गया होता है। जब इटली देश के भविष्य को वहाँ के फ़ासीवादियों और उनके नेता मुसोलिनी ने डुबो दिया, तो मुसोलिनी को आम लोगों ने मारकर एक चौराहे पर उल्टा लटका दिया और उसकी लाश पर थूकने वालों में आम निम्नमध्यवर्गीय आबादी पर्याप्त मात्रा में थी, जो कि कभी मुसोलिनी को देश का पिता मान चली थी। निश्चित तौर पर, अन्त में उसे सच्चाई समझ में आयी। लेकिन तब तक काफ़ी नुक़सान हो चुका था।

फ़ासीवादी शक्तियाँ इसलिए हावी नहीं होतीं कि वे संख्या में ज़्यादा होती हैं। वे इसलिए हावी हो जाती हैं कि वे एक काडर-आधारित संगठन और एक निश्चित जनविरोधी विचारधारा तले संगठित होती हैं, जबकि जनता की शक्तियाँ बिखरी हुई होती हैं। इसका जवाब एक क्रान्तिकारी काडर-आधारित संगठन, यानी सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी, एक वैज्ञानिक क्रान्तिकारी विचारधारा, ऐसी पार्टी के नेतृत्व में एक क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन और एक क्रान्तिकारी जनान्दोलन के ज़रिये ही दिया जा सकता है।

### *1. 'भारत जोड़ो यात्रा' के बारे में*

कई लोग पस्तहिम्मती में कांग्रेस व राहुल गाँधी की 'भारत जोड़ो यात्रा' से आस लगाये बैठे हैं। इससे पहले कि झूठी उम्मीद से काफ़ी नुक़सान हो जाये, हमें समझ लेना चाहिए कि इससे फ़ासीवाद का निर्णायक तौर पर प्रतिरोध सम्भव नहीं है। यह सच है कि 'भारत जोड़ो यात्रा' के दौरान राहुल गाँधी ने काफ़ी मेहनत की, 3000 किलोमीटर पैदल चले। उन्होंने भाजपा पर तीखे हमले किये, उसके भ्रष्टाचार को कठघरे में खड़ा किया और उसकी फ़िरकापरस्ती को भी पुराने गाँधीवादी, नेहरूवादी मानवतावाद की ज़मीन पर खड़े होकर निशाना बनाया। इसमें भी कोई दो राय नहीं है कि यह यात्रा मोदी सरकार और संघी फ़ासीवाद से नाराज़ तमाम लोगों को आकर्षित करने में एक हद तक कामयाब रही। बहुत-से लोग किसी अन्य विकल्प को मौजूद न देखकर इस यात्रा में शामिल भी हुए। यह भी सच है कि एक पूँजीवादी राजनीतिज्ञ के तौर पर पहली बार राहुल गाँधी भाजपा सरकार और उसके नेता-मन्त्रियों का जवाब नहीं दे रहे थे, बल्कि भाजपा सरकार के नेता-मन्त्री उनका जवाब दे रहे थे। यह एक अहम बात होती है। इसका अर्थ होता है कि राहुल गाँधी चर्चा की शर्तें तय कर रहे थे। यात्रा के बाद भी राहुल गाँधी ने मोदी सरकार पर तीखे निशाने साधे।

**लेकिन इन सबके बावजूद फ़ासीवादी उभार का निर्णायक तौर पर मुकाबला कांग्रेस या कोई भी पूँजीवादी दल नहीं कर सकता है।** ऐसा नहीं कि भाजपा की चुनावी हार असम्भव है। आज इसकी गुंजाइश तो बहुत कम दिख रही है, लेकिन 2024 में भाजपा की हार होना असम्भव नहीं है। मगर असल बात यह है कि 2024 में भाजपा की चुनावी हार का मतलब भारत में आर.एस.एस. की अगुवाई में खड़े किये गये फ़ासीवादी उभार की निर्णायक पराजय नहीं होगी। जिन्हें यह बात समझ में नहीं आती, उन्हें याद कर लेना चाहिए कि 2004 में और फिर 2009 में भाजपा की चुनावी हार को कई लोग संघी फ़ासीवाद की निर्णायक हार मानकर अति-उत्साह में उछल-कूद कर रहे थे। 2014 और 2019 में वे उतनी ही पस्तहिम्मती में पड़े हुए थे और उनमें से कई तो अपनी अकर्मण्यता और मूर्खता का ठीकरा व्यापक मेहनतकश जनता पर ही फोड़ने लगे हैं।

पहले हम एक पल को मान लेते हैं कि राहुल गाँधी कांग्रेस का जीर्णोद्धार करने में सफल हो जाते हैं, प्रमुख विपक्षी पार्टियों को किसी कांग्रेस-नीत गठबन्धन में लाने में सफल हो जाते हैं, और अन्तत: किसी तरह से मोदी-शाह को 2024 के आम चुनावों में पराजित कर देते हैं। **इसका मज़दूरों और आम मेहनतकश लोगों के लिए क्या अर्थ होगा?** देश के लिए राहुल गाँधी का आर्थिक कार्यक्रम व राजनीतिक नीतियाँ क्या होंगी? केवल इसी के आधार पर आम मेहनतकश आबादी अपना रवैया तय कर सकती है।

राहुल गाँधी ने यात्रा के दौरान ही उदारवादी पूँजीपति वर्ग के चहेते अर्थशास्त्री रघुराम राजन और नेता व अभिनेता कमल हासन को दिये साक्षात्कार में अपना आर्थिक कार्यक्रम बता दिया है। वह इस बात पर गर्व महसूस करते हैं कि देश में निजीकरण की नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत 1991 में कांग्रेस ने की थी और इसलिए भाजपा का यह आरोप झूठ है कि वह पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ है। वह तो बस "कुछ पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाने वाले भ्रष्ट पूँजीवाद" के विरुद्ध हैं! आख़िर सभी पूँजीपतियों को मज़दूर वर्ग और प्रकृति की लूट की बराबरी से छूट और अवसर मिलने चाहिए! इसके साथ, राहुल गाँधी ने छोटे व मँझोले पूँजीपतियों को बड़ी पूँजी द्वारा निगल लिये जाने से बचाने के वायदे किये और गाँवों में धनी पूँजीवादी फ़ार्मरों और ज़मीन्दारों को खेत मज़दूरों की भरपूर लूट और लाभकारी मूल्य द्वारा बेशी मुनाफ़ा पीटने का पूरा अवसर देने का वायदा किया। इसके

(पेज 10 पर जारी)

# फ़ासीवाद को परास्त करने के लिए सर्वहारा रणनीति पर कुछ ज़रूरी बातें

(पेज 9 से आगे)

अलावा, **राहुल गाँधी किस आर्थिक मॉडल का अनुसरण करना चाहते हैं?** चीन मॉडल! वह कहते हैं कि भारत चीन को विश्व बाज़ार में तभी पछाड़ सकता है और केवल तभी वह आर्थिक, राजनीतिक व सामरिक तौर पर चीन के लिए चुनौती बन सकता है, जब वह चीन को पीछे छोड़कर दुनिया के लिए मैन्युफैक्चरिंग का प्रमुख केन्द्र बन जाये। लेकिन क्या श्री गाँधी को पता है कि दुनिया के पूँजी निवेश व उत्पादन का केन्द्र बनने के लिए और दुनियाभर से और चीनभर से पूँजी निवेश को आमन्त्रित करने के लिए चीनी नामधारी "कम्युनिस्ट" मगर वास्तव में सामाजिक फ़ासीवादी सत्ता ने क्या कदम उठाये हैं? ये कदम हैं मज़दूरों के सारे जनवादी और आर्थिक अधिकारों को छीन लिया जाना, लम्बे कार्यदिवस, यूनियन बनाने के अधिकार से वंचित किया जाना, कोई भी आवाज़ उठाने पर बर्बर दमन। यही तो सारे पूँजीपति चाहते हैं, कि मज़दूरों की मज़दूरी को कम-से-कम रखने के लिए उनके सारे अधिकार छीन लिये जायें, "धन्धा करने की पूरी सहूलियत" उनको हासिल हो जाये! अगर यही राहुल गाँधी का आर्थिक मॉडल है, तो स्पष्ट है कि मज़दूरों के लिए भूमण्डलीकरण, निजीकरण, व उदारीकरण की नीतियों में, श्रम क़ानूनों को तबाह किये जाने और राजकीय दमन के मामले में भाजपा की मोदी सरकार के मुकाबले कांग्रेस-नीत सरकार आने पर ज़्यादा से ज़्यादा उन्नीस-बीस का ही फ़र्क़ आयेगा। मज़दूरों को दबाने की नीतियों को विशेष तौर पर गहराते संकट के दौर में किसी भी पूँजीवादी पार्टी की सरकार छोड़ नहीं सकती है। कांग्रेस के राज के दौरान ही मारुति के मज़दूरों के साथ क्या सुलूक किया गया था, क्या हम भूल सकते हैं? **इसलिए जहाँ तक आर्थिक कार्यक्रम का प्रश्न है, कांग्रेस की या कांग्रेस-समर्थित किसी तीसरे मोर्चे की सरकार आ भी जाये, तो मज़दूर किसी गुणात्मक परिवर्तन की उम्मीद नहीं कर सकते हैं।**

दूसरी बात: **कांग्रेस की सरकार आ भी जाये, तो क्या कांग्रेस साम्प्रदायिक संघ परिवार की तमाम आतंकी टोलियों को आतंकवादी घोषित करके प्रतिबन्धित करेगी? क्या वह बजरंग दल, विहिप व तमाम गोरक्षा दल, जिनकी आतंकी व आपराधिक गतिविधियों के तमाम प्रमाण मौजूद हैं, उनको प्रतिबन्धित व उनके नेताओं को गिरफ़्तार करेगी?** आज राहुल गाँधी भाजपा व संघ परिवार के बारे में चाहे जितनी गर्म बातें कर लें, यदि कांग्रेस सत्ता में आ भी जाये तो वह संघ परिवार के तमाम आतंकी गिरोहों को प्रतिबन्धित नहीं करेगी, न ही सच्चे सेक्युलरिज़्म को लागू करते हुए राजनीति में धर्म के इस्तेमाल को रोकने के लिए कोई सख़्त क़ानून लायेगी। वजह यह है कि एक तो स्वयं कांग्रेस को नरम साम्प्रदायिक कार्ड खेलने की ज़रूरत पड़ती रहती है, और दूसरा यह कि पूँजीपति वर्ग को सत्ता में न होने पर भी फ़ासीवादी गिरोहों की ज़रूरत होती है, क्योंकि ये उनकी अनौपचारिक राज्यसत्ता के तौर पर काम करते हैं। इसलिए ख़ुद पूँजीपति वर्ग कांग्रेस को इस बात की इजाज़त नहीं देगा और किसी अपवादस्वरूप स्थिति में ही इसकी कल्पना की जा सकती है। इसलिए कांग्रेस यदि सत्ता में आ भी जाये तो मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश वर्ग को आतंकित करने के लिए पूँजीपति वर्ग फ़ासीवादी शक्तियों का ज़ंजीर में बँधे कुत्ते की तरह इस्तेमाल करता रहेगा।

तीसरी बात, यदि अपवादस्वरूप स्थिति में 2024 में भाजपा की जगह कांग्रेस या कांग्रेस-समर्थित किसी तीसरे मोर्चे की सरकार बनती भी है, तो आर्थिक संकट के जारी रहने पर अगले राउण्ड में वह और भी भयंकर और आक्रामक फ़ासीवादी प्रतिक्रिया की ज़मीन ही तैयार करेगी, जैसा कि पिछले 25 वर्षों में होता आया है।

**यही तीन असली बातें हैं जिन्हें राहुल गाँधी और उनकी 'भारत जोड़ो यात्रा' के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।** बाकी सारी प्यार, मुहब्बत, इंसानियत, शान्ति और 'प्यार की दुकान' वगैरह की बातें डायलॉगबाज़ी होती है, जिसका राजनीति में हर दल अपनी-अपनी तरह से इस्तेमाल करता है। अगर समाज में न्याय नहीं है तो प्यार, इंसानियत और शान्ति की बातें खोखली बकवास के अलावा कुछ नहीं होतीं। ऐसे में, कांग्रेस की सरकार आ भी जाये तो फ़र्क़ बस इतना पड़ेगा कि जिस तरह से आज न सिर्फ़ फ़ासीवादी गुण्डावाहिनियाँ बल्कि स्वयं सरकार खुले तौर पर धार्मिक कट्टरपंथी दंगाई की तरह बर्ताव कर रही है, शायद वैसा न हो। दमन का पाटा जिस तरह से चलाया जा रहा है, अभिव्यक्ति की सारी आज़ादी को जिस तरह से कुचल दिया जा रहा है, पत्रकारों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों तक को जैसे जेलों में भरा जा रहा है, शायद (यह भी नवउदारवाद के दौर में पक्का नहीं है) उसमें कोई मामूली मात्रात्मक कमी आये। लेकिन इन मात्रात्मक परिवर्तनों से ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों-मेहनतकश की नेतृत्व की ताक़तों को कुछ मोहलत मिल सकती है, हालाँकि इसकी भी कोई गारण्टी नहीं है। इतिहास गवाह है कि आर्थिक संकट के गहराने और उसके राजनीतिक संकट में तब्दील होने पर स्वयं कांग्रेस की सरकारों ने दमन और तानाशाहाना रवैया अपनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। किसी अन्य तीसरे मोर्चे की कांग्रेस-समर्थित सरकार भी आ जाये तो भी यही उम्मीद की जा सकती है।

**लुब्बेलुआब यह कि यदि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को खोकर फ़ासीवाद से लड़ने के वास्ते इस या उस पूँजीवादी पार्टी की पूँछ में कंघी करने का रास्ता अपनाता है और उसका पिछलग्गू बनता है, तो वह आत्मघाती होगा और सर्वहारा वर्ग की विजय की सम्भावनाओं को बंजर बनाने का काम करेगा।** इसलिए हमें तमाम उदार वामियों, वाम उदारपंथियों को 'भारत जोड़ो यात्रा' की बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना बनने देना चाहिए और अपना पूरा ज़ोर अपनी क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के निर्माण पर लगा देना चाहिए। केवल इसी के बूते पर हम देश के आम मेहनतक़श अवाम को क्रान्तिकारी जनसंगठनों में और क्रान्तिकारी जनान्दोलनों की सूरत में संगठित कर सकते हैं और केवल यही जुझारू जनएकजुटता जनता के सबसे बड़े दुश्मन, यानी संघी फ़ासीवाद को हमेशा के लिए ज़मींदोज़ कर सकता है, नेस्तनाबूद कर सकता है, उसे मिट्टी में मिला सकता है। केवल क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ने ही इतिहास में फ़ासीवाद को निर्णायक शिकस्त दी है और भविष्य में भी ऐसा ही होगा।

## *2. तो करना क्या होगा?*

**सबसे पहला कार्यभार है कि देश के पैमाने पर एक क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का निर्माण किया जाये।** इसके लिए, **एक राजनीतिक मज़दूर अख़बार** का होना और **मज़दूरों के अध्ययन मण्डलों का जाल** बिछा देना बेहद ज़रूरी बुनियादी कार्य है। क्रान्ति और समाज के विज्ञान के बारे में ज्ञान के बिना मज़दूर वर्ग के उन्नत तत्व भला पार्टी कैसे खड़ी कर सकते हैं? यह जाने बिना कि पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी का शोषण और उत्पीड़न कैसे करता है, वह भला अपनी इंक़लाबी पार्टी को कैसे खड़ा कर सकता है? ये जाने बग़ैर कि इतिहास में मज़दूर वर्ग ने संगठित होकर किस तरह से पूँजीवादी व्यवस्था को पलट दिया था और पूँजीपति वर्ग के हाथों से सत्ता छीन ली थी, मज़दूर वर्ग अपनी हिरावल पार्टी कैसे बना सकता है? आज के पूँजीवाद में पहले से क्या बदलाव आये हैं, इसे जाने बग़ैर वह आज पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस कर न्याय और समानता पर आधारित मेहनतकशों की सत्ता कैसे खड़ी कर सकता है? न सिर्फ़ अपने और पूँजीपति वर्ग के बीच के, बल्कि सभी वर्गों के बीच के आपसी सम्बन्धों को समझकर ही वह वास्तविक राजनीतिक दख़ल दे सकता है। केवल क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करते हुए व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों के सही विचारों को वह विकसित कर सकता है और एक सही राजनीतिक लाइन निकाल सकता है, जिसके बूते पर वह व्यापक मेहनतकश जनता को नेतृत्व दे सकता है, उसे पूँजीपति वर्ग के विचारधारात्मक व राजनीतिक वर्चस्व से मुक्त कर सकता है। इसलिए सबसे पहला अहम बुनियादी काम है : एक क्रान्तिकारी सर्वहारा हिरावल पार्टी का निर्माण, एक क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का निर्माण।

**दूसरा तात्कालिक कार्यभार है एक क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन का निर्माण जो कि पूँजी के हमलों का प्रभावी तरीक़े से प्रतिरोध कर सके।** इसके लिए इलाक़ाई और सेक्टरगत ट्रेड यूनियनों पर ज़ोर बढ़ाना और विशेष तौर पर समूचे सेक्टरों के अस्थायी मज़दूरों को संगठित करना सबसे ज़रूरी और बुनियादी काम है। ऑटोमोबाइल से लेकर टेक्सटाइल सेक्टर तक के मज़दूरों को यह समझना होगा कि जब तक सेक्टरगत यूनियन और अस्थायी मज़दूरों को संगठित करने पर ज़ोर नहीं बढ़ाया जाता, तब तक पूँजी के हमलों का महज़ कारखाना-केन्द्रित व कारखाना-आधारित यूनियनों के आधार पर मुक़ाबला करना सम्भव नहीं है। क्या पिछले दो दशकों के मज़दूर आन्दोलन के अनुभवों ने इस सच्चाई को साबित नहीं किया है? एक मज़बूत क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन के बिना क्रान्तिकारी आन्दोलन बहुत दूर नहीं जा सकता है। इसके लिए ग्रामीण मज़दूरों की अपनी क्रान्तिकारी यूनियनों का निर्माण भी बेहद ज़रूरी है। और इस ट्रेड यूनियन आन्दोलन को शुरू से ही अर्थवाद और मज़दूरवाद से मुक्त रखना और उसे राजनीतिक तौर पर शिक्षित और प्रशिक्षित करना अनिवार्य है।

**तीसरा तात्कालिक कार्यभार है कि क्रान्तिकारी पार्टी को मज़दूर वर्ग का एक क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़ा करने के साथ व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों के हर हिस्से में क्रान्तिकारी जनसंगठन खड़े करने होंगे:** मसलन, छात्रों-युवाओं के क्रान्तिकारी जनसंगठन, ग़रीब किसानों के जनसंगठन, जुझारू पितृसत्ता-विरोधी व जाति-विरोधी जनसंगठन, आम मेहनतकश वर्गों से आने वाले नागरिकों के जनसंगठन, इत्यादि। ये जनसंगठन ही अलग-अलग विशिष्ट माँगों पर जुझारू संघर्ष करते हुए समूची मेहनतकश जनता के बीच मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की सच्चाई को उजागर करते हैं। इन संघर्षों के ज़रिये ही पूँजीवादी व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाया जा सकता है।

**चौथा अहम कार्यभार है व्यापक मेहनतकश आबादी के इलाकों में संस्थागत क्रान्तिकारी सुधार कार्यों के ज़रिये जनता की समानान्तर संस्थाओं को विकसित करना और इनके ज़रिये उन्हें जागृत, गोलबन्द और संगठित करना।** इसके ज़रिये ही क्रान्तिकारी ताक़तें समाज में अपनी स्थिति को मज़बूत कर सकती हैं, अपनी पोज़ीशन बाँध सकती हैं, फ़ासीवादी झूठे व साम्प्रदायिक प्रचार का मुकाबला कर सकती हैं और फ़ासीवादी आतंकी गिरोहों के हमलों को नाकाम कर सकती हैं।

**आख़िरी प्रमुख कार्यभार है एक क्रान्तिकारी वैकल्पिक जनमीडिया खड़ा करना।** यानी, जनता के हितों के नज़रिये से निकलने वाले अख़बारों, पत्रिकाओं, पुस्तक प्रकाशनों, संगीत टोलियों, यूट्यूब चैनलों, व सोशल मीडिया के तमाम प्लेटफॉर्मों, जनपक्षधर सिनेमा बनान, आदि के एक व्यापक नेटवर्क का निर्माण करना। ये सारी चीज़ें जनता के बल पर की जा सकती हैं। ऐसे कलाकारों, पत्रकारों व बुद्धिजीवियों को संगठित किया जाना चाहिए जो इन कार्यभारों को अंजाम देने के लिए ज़रूरी विचारधारात्मक व राजनीतिक समझ रखते हों या विकसित कर सकते हों और इसके लिए तकनीकी कौशल भी उनके पास हों। ऐसे बुद्धिजीवी जो अपना पूरा जीवन इसी काम को समर्पित कर दें। हमें याद रखना चाहिए कि कोई भी नया क्रान्तिकारी वर्ग पुराने शासक वर्ग को विचारधारात्मक तौर पर पहले ही शिकस्त दे देता है। सर्वहारा वर्ग ने भी पूँजीपति वर्ग को विचारधारात्मक व दार्शनिक तौर पर डेढ़ सदी पहले ही शिकस्त दे दी थी, लेकिन उस इतिहास पर आज धूल और राख की परतें चढ़ा दी गयी हैं। इसलिए नये सिरे से सर्वहारा विचारधारा व संस्कृति के वर्चस्व को स्थापित करने के लिए और उसे जनता के लिए एक प्राधिकार बनाने के लिए सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के इस कार्यभार को अंजाम देना ही होगा।

निश्चित तौर पर, उपरोक्त कार्यभारों को पूरा करने के साथ सभी क्रान्तिकारी सर्वहारा शक्तियों का फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाना भी बेहद ज़रूरी है क्योंकि तात्कालिक तौर पर फ़ासीवाद के हमलों की मुख़ालफ़त करने के लिए यह ज़रूरी है। अफ़सोस की बात है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में राजनीतिक संकीर्णता, तात्कालिक सांगठनिक लाभ, राजनीतिक करियरवाद और अवसरवाद की प्रवृत्तियाँ इतनी हावी हैं कि ऐसा कोई संयुक्त मोर्चा फ़िलहाल बन नहीं पा रहा है। लेकिन इसके लिए प्रयास जारी रखने होंगे।

## निष्कर्ष

हमने संक्षेप में मौजूदा हालात का एक जायज़ा लिया, फ़ासीवादी उभार की विशिष्टताओं पर एक बार फिर से बात की, उसका प्रतिरोध किस प्रकार से नहीं किया जा सकता है इस पर बात की और साथ ही इस पर भी चर्चा की कि उसका प्रभावी और क्रान्तिकारी सर्वहारा प्रतिरोध संगठित करने के कुछ बुनियादी कार्यभार क्या हैं। निश्चित तौर पर, उपरोक्त क़दमों के अलावा और कई क़दम उठाने की आवश्यकता है और हमने यहाँ केवल सबसे बुनियादी कार्यभारों की ही बात की है। इन पर सभी मज़दूर साथियों को आपस में बातचीत और चर्चा करने की आवश्यकता है और अपनी सहमति या असहमति के मुद्दों पर बहस के ज़रिये अपनी रणनीति को अधिक से अधिक कारगर बनाने और उसे विकसित करने की ज़रूरत है। इस प्रक्रिया में अपनी राय हमें ज़रूर लिखें और हमसे अपने विचार ज़रूर साझा करें। हमारे पास बहुत ज़्यादा वक़्त नहीं है। फ़ासीवाद का उभार आज भी अप्रतिरोध्य नहीं है, आज भी इसे हराने की एक लम्बी लड़ाई को संगठित करना सम्भव है। इसलिए आज से ही हमें सोचना होगा, अपनी तय रणनीति को अमल में लाने की शुरुआत करनी होगी।

## क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 10

# मालों का संचरण और मुद्रा

• अभिनव

पिछले अंक में हमने पढ़ा कि किस प्रकार सामाजिक श्रम विभाजन और विनिमय के विकास के साथ मुद्रा-रूप का विकास हुआ। हमने मूल्य के एक स्वतंत्र रूप के तौर पर मुद्रा के विकास के विभिन्न चरणों को समझा और देखा कि विनिमय के सबसे प्रारम्भिक रूप यानी सांयोगिक रूप में ही मुद्रा-रूप के पैदा होने के बीज मौजूद थे। जैसे-जैसे समाज में सामाजिक श्रम विभाजन के विकास के साथ विनिमय का विस्तार और सघनता बढ़ी वैसे-वैसे उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच का अन्तरविरोध और तीखा होता गया। इसके साथ ही एक मंज़िल पर मुद्रा-रूप विकसित हुआ जो एक प्रकार से सभी मालों की 'संयुक्त कार्रवाई' थी। मानो सभी मालों ने साथ आकर एक माल को मुद्रा की भूमिका प्रदान की, उसे सार्वभौमिक समतुल्य, मूल्य के स्वतंत्र-रूप की पदवी दी।

हमने यह भी देखा कि अलग-अलग समाजों में अलग-अलग मालों ने यह भूमिका ग्रहण की, जो कि उक्त समाजों में विभिन्न मालों के सापेक्षिक महत्व पर निर्भर करता था। मसलन, कहीं पर ढोर-डंगर, कहीं तम्बाकू, कहीं कौड़ी, तो कहीं कपड़ा, चावल या दूध को यह पदवी हासिल हुई। लेकिन चूँकि मुद्रा मूल्य का, यानी अमूर्त मानवीय श्रम का, स्वतंत्र-रूप थी, इसलिए इसके लिए कोई ऐसा माल उपयुक्त था जो पूरी दुनिया में एक रूप में पाया जाता हो, क्षणभंगुर न हो, टिकाऊ हो और उसे केवल मात्रा के आधार पर विभाजित किया जा सकता हो, गुण के आधार नहीं। यह भूमिका चाँदी और मुख्य रूप से सोने ने ग्रहण की। यह सोने या चाँदी के उत्पादन में लगने वाला अमूर्त मानवीय श्रम ही था, जो कि अन्य मालों के मूल्य के निर्धारण के लिए एक स्केल का काम करता था। ज़ाहिर है, इसके लिए सोने और चाँदी के अलग-अलग भार के टुकड़ों को निर्धारित किया गया ताकि अलग-अलग मालों के साथ उनका विनिमय हो सके। इस प्रकार का कोई स्वतंत्र मूल्य-रूप यानी मुद्रा तभी समूचे समाज के पैमाने पर मान्य हो सकती है, जब कोई प्राधिकार, यानी राज्यसत्ता, उसे अपनी मुहर के साथ मान्यता प्रदान करे। **लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मुद्रा को राज्यसत्ता ने पैदा किया।** मुद्रा माल उत्पादक समाज में माल उत्पादकों के आपसी विनिमय से पैदा हुई और अलग-अलग सभ्यताओं में सरकारों या राज्यसत्ताओं ने उसे मान्यता बाद में प्रदान की।

अब हम आगे बढ़ेंगे। विनिमय की प्रक्रिया की कुछ विशिष्ट अभिलाक्षणिकताओं की संक्षिप्त चर्चा करते हुए हम मालों के संचरण और मालों के विनिमय के आरम्भिक रूप यानी उनके प्रत्यक्ष लेन-देन या अदला-बदली (barter) के बीच का अन्तर समझेंगे और फिर देखेंगे कि मुद्रा और मालों के संचरण का क्या रिश्ता है। साथ ही, हम मुद्रा के चलन (currency of money) के अर्थ को भी समझेंगे।

मार्क्स का मुद्रा का सिद्धान्त मुद्रा के रूप में एक माल के अस्तित्व की बात करता है। यानी, एक माल जिसमें अमूर्त श्रम की एक निश्चित मात्रा लगी हो, केवल वही अन्य सभी मालों के लिए मूल्य की माप का काम कर सकता है। लेकिन मार्क्स ने यह भी बताया कि इस सिद्धान्त के आधार पर ही मुद्रा के प्रतीकों, जैसे ताँबे, काँसे आदि के सिक्कों द्वारा भी सोने के सिक्कों के मूल्य का प्रतिनिधित्व हो सकता है, और साथ ही यह काम राज्यसत्ता द्वारा मान्यता प्राप्त पेपर नोट भी कर सकते हैं। लेकिन मार्क्स के दौर में ये पेपर नोट स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तनीय (convertible) थे, या जब वे अपरिवर्तनीय (inconvertible) थे तो भी मूल्य की जिस मात्रा का वह प्रतिनिधित्व करते थे, वह स्वर्ण मुद्रा की एक विशिष्ट मात्रा ही थी। इस प्रकार सोना ही अभी भी मूल्य की माप की भूमिका निभा रहा था। हम जानते हैं कि आज रिज़र्व बैंक जो पेपर नोट जारी करता है, उसका मूल्य स्वर्ण-समर्थित (gold-backed) नहीं है। तो क्या इसका अर्थ है कि मार्क्स का मुद्रा का सिद्धान्त पुराना पड़ गया? नहीं। मार्क्स के मुद्रा के सिद्धान्त में ही वे तत्व मौजूद हैं जिनके आधार पर आप पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक काग़ज़ी मुद्रा के सिद्धान्त को निगमित कर सकते हैं, जो कि स्वर्ण-समर्थित न हो, यानी जिसका मूल्य स्वर्ण द्वारा विनियमित न हो। स्वर्ण-समर्थित न होने का यह अर्थ नहीं है कि मौजूदा काग़ज़ी मुद्रा का मूल्य काल्पनिक है और राज्यसत्ता मनमानी मात्रा में काग़ज़ी नोट जारी करके उसके मूल्य को निर्धारित कर सकती है और समाज में मालों की क़ीमतों के स्तर को मनमुआफ़िक तरीके से तय कर सकती है। **स्वर्ण-समर्थित न होने का यह अर्थ नहीं है कि मुद्रा का मूल्य आज सामाजिक स्तर पर मानवीय अमूर्त श्रम से निर्धारित नहीं होता है और वह किसी चीज़ से समर्थित नहीं है।** लेकिन इन बातों को समझने से पहले मार्क्स के मुद्रा के सिद्धान्त के बुनियादी तत्वों की एक उपयुक्त समझदारी बनाना अनिवार्य है।

इस अध्याय में हम मुद्रा के मार्क्स के सिद्धान्त को समझेंगे, मुद्रा के प्रकार्यों को समझेंगे, स्वर्ण-समर्थित या स्वर्ण में परिवर्तनीय या अपरिवर्तनीय प्रतीकात्मक मुद्रा (यानी अन्य धातुओं के सिक्के या काग़ज़ी नोट) को समझेंगे। अगले अंक में हम विस्तार से देखेंगे कि मार्क्सवादी मुद्रा सिद्धान्त के आधार पर मौजूदा काग़ज़ी मुद्रा और उसके मूल्य को किस प्रकार से वैज्ञानिक रूप में समझा जा सकता है, जो कि स्वर्ण-समर्थित नहीं है।

### विनिमय और मुद्रा

सबसे पहली बात तो यह है कि सभी माल उत्पादकों के लिए उनके द्वारा उत्पादित माल कोई उपयोग-मूल्य नहीं होता है, वरना वे उसे बेचेंगे ही नहीं। उनके द्वारा उत्पादित माल एक *सामाजिक उपयोग-मूल्य* होता है यानी वह आम तौर पर समाज के लिए उपयोगी होता है। इसलिए एक माल उत्पादक समाज में मालों का उपयोग-मूल्य के रूप में उपभोग हो सके, इसके पहले उनका बिकना ज़रूरी है। *यानी, उपयोग-मूल्य के रूप में वास्तवीकृत होने, यानी उनका उपभोग होने के पहले, मूल्य के रूप में उनका वास्तवीकृत होना, यानी बिकना अनिवार्य होता है। यह माल उत्पादक समाज का महत्वपूर्ण आम नियम है।*

मूल्य के सांयोगिक रूप या विस्तारित रूप *(इसे समझने के लिए पिछले अध्याय को सन्दर्भित करें– लेखक)* की मंज़िल में सभी माल अपने मूल्यों को अलग-अलग मालों में अभिव्यक्त करते हैं और उनका समतुल्य मूल्य बदलता रहता है। मसलन, एक लीटर दूध का मूल्य दो मीटर कपड़े, एक किलो गेहूँ, दो हथौड़ों, आधा किलो चावल के रूपों में अभिव्यक्त हो सकता है। **दूसरे शब्दों में, मूल्य ने अभी कोई स्वतंत्र-रूप ग्रहण नहीं किया है।** मूल्य का कोई ऐसा स्वतंत्र-रूप नहीं पैदा हुआ है जो सभी मालों के लिए समतुल्य की भूमिका निभाये, यानी जो **सार्वभौमिक समतुल्य** हो, जिसमें कि सभी माल अपना मूल्य अभिव्यक्त करते हों और जिससे सभी मालों का विनिमय हो सकता हो।

मुद्रा का विकास सामाजिक श्रम विभाजन और मालों के उत्पादन व विनिमय के विकास की एक निश्चित मंज़िल में होता है। जैसे-जैसे मानवीय श्रम के अधिक से अधिक उत्पाद माल बनते जाते हैं, वैसे-वैसे उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच का अन्तरविरोध तीखा होता जाता है क्योंकि परस्पर आवश्यकताओं का संयोग मुश्किल होता जाता है। हर माल उत्पादक के लिए उसका माल उपयोग-मूल्य नहीं होता है और वह सामाजिक उपयोग मूल्य होता है, जो तभी वास्तवीकृत हो सकता है यानी उपभोग के क्षेत्र में जा सकता है, जब उसका विनिमय हो, यानी वह मूल्य के रूप में वास्तवीकृत हो। लेकिन यह तभी हो सकता है, जब दूसरे माल उत्पादक को उस माल की आवश्यकता हो और पहले माल उत्पादक को दूसरे माल उत्पादक के माल की आवश्यकता हो। जैसे-जैसे अधिक से अधिक उत्पाद माल बनते जाते हैं, यह होना बेहद मुश्किल होता जाता है। **इसी को हम उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच के अन्तरविरोध का तीखा होना कह रहे हैं।**

मुद्रा इसी अन्तरविरोध के जवाब में सभी मालों की सामूहिक, संयुक्त और सामाजिक कार्रवाई है, जिसमें एक विशिष्ट माल या कुछ विशिष्ट मालों को सार्वभौमिक समतुल्य यानी मुद्रा की भूमिका अदा करने के लिए अलग कर दिया जाता है, जो कि **स्वयं मूल्य का मूर्त रूप**, उसका स्वतंत्र-रूप और **अपने आप में** जमा हुआ अमूर्त मानवीय श्रम है। इसी प्रकार से, आम तौर पर, उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच का अन्तरविरोध मुद्रा-रूप के ज़रिये *सँभाला* जाता है। ज़ाहिर है, यह *हल नहीं होता।* यदि सामाजिक श्रम विभाजन उपयुक्त नहीं है, तो सामाजिक प्रभावी माँग की तुलना में अधिक मात्रा में पैदा हो गया माल या तो अपने मूल्य से कम बाज़ार-दाम पर बिकेगा या फिर कई बार वह बिक ही नहीं पायेगा। **इसलिए मुद्रा-रूप में माल में अन्तर्निहित उपयोग-मूल्य व मूल्य का अन्तरविरोध सँभाला जाता है, तात्कालिक तौर पर समाधित होता है, लेकिन सामाजिक तौर पर उसका स्थायी हल एक माल उत्पादक समाज में सम्भव नहीं होता है।** इस प्रकार मुद्रा और कुछ नहीं बल्कि सभी मालों के बीच मूल्य-सम्बन्धों (value-relations) का प्रतिवर्त (reflex) है, जो इनमें निहित अन्तरविरोधों के तीखे होने से पैदा होती है।

यहाँ ग़ौरतलब बात यह है कि मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा-माल (यानी, चाँदी या स्वर्ण) के उत्पादन (इनके उत्पादन का अर्थ इनका धरती से निकाला जाना, उसका परिशोधन आदि है) में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त मानवीय श्रम की मात्रा से ही तय होता है। ठीक इसीलिए वह सभी मालों के मूल्य की माप की भूमिका मुद्रा के रूप में निभा सकती है।

**मुद्रा का मुख्य प्रकार्य एक स्वतंत्र मूल्य-रूप (independent value-form) प्रदान करना है, एक ऐसी सामग्री जिसमें सभी माल अपने मूल्य को अभिव्यक्त कर सकें।** ठीक इसी वजह से इस काम के लिए सोना मूलत: सबसे उपयुक्त धातु था क्योंकि वह हर जगह एक रूप में पाया जाता है और सोने को सोने से अलग सिर्फ़ मात्रा के आधार पर किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अमूर्त श्रम को अमूर्त श्रम से केवल मात्रा के आधार पर ही अलग किया जा सकता है। **मुद्रा का मूल्य अवश्य होता है, लेकिन उसकी कोई क़ीमत नहीं होती है।** यह मुद्रा ही है जिसमें हर माल अपनी क़ीमत या दाम को अभिव्यक्त करता है, लेकिन स्वयं मुद्रा की कोई क़ीमत नहीं होती है, उसका कोई दाम नहीं होता है।

मार्क्स ने डेविड ह्यूम और इस मामले में उनका अनुसरण करने वाले डेविड रिकार्डो के सिद्धान्त का खण्डन किया। ह्यूम व रिकार्डो का मानना था कि मुद्रा का मूल्य काल्पनिक होता है। उनका यह दावा उन्हें मुद्रा के मात्रा-सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) की ओर ले गया जिसके अनुसार मुद्रा की अधिक आपूर्ति के कारण उसका मूल्य गिर जाता है। मार्क्स ने बताया कि जहाँ तक स्वर्ण-मुद्रा या उसके सोने में परिवर्तनीय प्रतीकों का प्रश्न है, उनकी आपूर्ति यदि आवश्यकता से अधिक होगी तो वे संचरण से बाहर चली जायेंगी और उनके ढेर जमा होंगे जो कि मालों के संचरण के माध्यम का काम नहीं करेंगे। मार्क्स ने बताया कि मुद्रा-रूप इस मायने में अवश्य काल्पनिक है कि मालों का मूल्य व मुद्रा का मूल्य एक वास्तविक चीज़ होती है, लेकिन उनके बीच की समानता बाज़ार में काल्पनिक रूप में स्थापित होती है। मिसाल के तौर पर, बाज़ार माल उत्पादक को पहले ही नहीं बता देता कि 'तुम्हारे माल की फलाँ क़ीमत है'। माल उत्पादक अपने माल पर क़ीमत का लेबल लगाता है, जो मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के लिए आमंत्रण होता है। यदि यह क़ीमत मूल्य से ज़्यादा या कम है तो बाज़ार में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा अन्त में उसे समतुलित कर देगी। अभी हमने पूँजीवादी माल उत्पादन व मुनाफ़े की दर के औसतीकरण की चर्चा नहीं की है और हम साधारण माल उत्पादन की ही बात कर रहे हैं। ऐसे में, बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा माल उत्पादक द्वारा तय क़ीमत को मूल्य के इर्द-गिर्द ही स्थापित करेगी। बाज़ार द्वारा अनुशासित होने पर माल उत्पादक अपने माल की क़ीमत को संशोधित करेगा। **इस रूप में मुद्रा-रूप अवश्य काल्पनिक है, लेकिन स्वयं मुद्रा का मूल्य काल्पनिक नहीं है, बल्कि वह अमूर्त श्रम की मात्रा से ही निर्धारित होता है।**

आगे मार्क्स बताते हैं कि चूँकि मुद्रा-रूप (money-form) काल्पनिक है, इसलिए मुद्रा की भूमिका किसी काल्पनिक या आदर्श मुद्रा द्वारा निभायी जा सकती है, मसलन, काग़ज़ी मुद्रा। लेकिन तब भी केवल मुद्रा का भौतिक अस्तित्व (material existence of money) उसके प्रकार्यात्मक अस्तित्व (functional existence of money) द्वारा विनियोजित कर लिया जायेगा, लेकिन उसका मूल्य सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त मानवीय श्रम से ही निर्धारित होगा, जो असल मुद्रा-माल के उत्पादन में ख़र्च होता है।

फिर यह भ्रम पैदा कैसे हुआ कि अब मुद्रा मूल्य की माप नहीं है, उसका मूल्य अपने आप में मायने नहीं रखता, आदि? इसकी एक वजह यह है कि **मुद्रा के नामों** और **वज़न के नामों** में एक अन्तर पैदा हो गया। इतिहास बताता है कि अधिकांश मुद्राओं के नाम मुद्रा-माल (सोना या चाँदी) के टुकड़ों के वज़न के आधार पर ही तय हुए थे,

**(पेज 12 पर जारी)**

# मालों का संचरण और मुद्रा

(पेज 11 से आगे)

मसलन, पाउण्ड (ब्रिटिश मुद्रा) शब्द का मूल वास्तव में वज़न की इकाई पाउण्ड ही है। आरम्भिक तौर पर एंग्लो-सैक्सन इंग्लैण्ड में 776 ईसवी में पाउण्ड का अर्थ और कुछ नहीं बल्कि एक पाउण्ड चाँदी ही था। इसी प्रकार, इसके छोटे टुकड़े जो कि अलग-अलग मात्रा में होने वाले विनिमयों को सम्भव बनाने के लिए ज़रूरी थे, वे भी सोने/चाँदी की अलग-अलग मात्रा का प्रतिनिधित्व करते थे। मसलन, मान लीजिए कि एक समय में 10 किलो चावल का मूल्य 1/240 पाउण्ड या 1 आउंस चाँदी था। 1 पाउण्ड में लगभग 240 आउंस होते हैं। 1 आउंस लगभग 28 ग्राम के बराबर होता है। यहाँ हम इस विशिष्ट माल चावल और मुद्रा के तौर पर इस्तेमाल किये जा रहे माल यानी चाँदी दोनों की ही मात्रा को वज़न में अभिव्यक्त कर रहे हैं। समय बीतने के साथ 1 आउंस के चाँदी के सिक्कों को एक पेनी (जैसे हमारे यहाँ पैसा होता है) कहा जाने लगा और उसे d. (dinarium) से चिह्नित किया जाने लगा। फिर 12 पेनी को 1 शिलिंग का नाम दिया गया, और 20 शिलिंग में 1 पाउण्ड स्टर्लिंग निर्धारित हो गया। ये मुद्रा-माल की मात्रा के अलग-अलग मूल्य-वर्ग (denominations) हैं, जिन्हें राज्यसत्ता ही निर्धारित करती है। बाद में, जब सोने या चाँदी की मुद्रा की जगह अलग-अलग राज्यसत्ताओं ने मिश्रित या अन्य धातुओं के सिक्के जारी किये, तो भी उसमें सोने या चाँदी की मात्रा तो घट गयी (या ख़त्म हो गयी) लेकिन मुद्रा के मूल्य-वर्ग का नाम वही रहा। **यानी मुद्रा के मूल्य-वर्ग का नाम और वज़न की इकाई का नाम जो पहले एक ही थे, वे अलग हो गये। अब 1 पाउण्ड मुद्रा वास्तव में 1 पाउण्ड चाँदी की नुमाइन्दगी नहीं कर रही थी।** मिसाल के तौर पर, 1717 में इंग्लैण्ड ने मुद्रा-माल के रूप में सोने को अपना लिया और 1 आउंस सोने का मूल्य 4.25 पाउण्ड तय किया गया। यदि एक आउंस सोने के उत्पादन में 20 घण्टे लगते थे, और 10 यार्ड सूती कपड़ा बनाने में भी 20 घण्टे लगते थे, तो 10 यार्ड सूती कपड़े की क़ीमत 4.25 पाउण्ड होती थी। डॉलर-स्वर्ण मानक के दौर में 1967 में 1 पाउण्ड 2.4 डॉलर के बराबर था, जबकि 1 डॉलर 0.028 आउंस सोने के बराबर। यानी 1967 में 1 ब्रिटिश पाउण्ड 0.06 आउंस सोने के बराबर था। **यानी मुद्रा का मूल्य अभी भी मुद्रा-माल के उत्पादन से ही तय हो रहा था, लेकिन वज़न के नाम और मुद्रा के मूल्य-वर्ग के नाम अलग हो चुके थे।** मुद्रा के अवमूल्यन का काम अलग-अलग राज्यसत्ताओं ने इसलिए किया क्योंकि वे अपने राज्य के रिज़र्व में सोने और चाँदी की मात्रा की तुलना में कहीं ज़्यादा सिक्के जारी कर सकते थे और इसके ज़रिये राज्य के कर्ज़ चुका सकते थे, युद्धों का ख़र्च पूरा कर सकते थे, राज्य के ख़र्च पूरे कर सकते थे। हम मुद्रा के उद्भव और विकास के बेहद दिलचस्प इतिहास में बहुत विस्तार में नहीं जा सकते हैं, लेकिन इसके बारे में अवश्य पढ़ना चाहिए। इससे आपके सामने एक समूची तस्वीर उपस्थित होती है और आर्थिक इतिहास की घटनाओं का एक सजीव चित्र दिमाग़ में उपस्थित होता है।

इसके बाद मार्क्स मुद्रा के दो बुनियादी कार्यों पर आते हैं: **पहला, मूल्य की माप और दूसरा, क़ीमत/दाम का मानक।** इनका क्या अर्थ है? मूल्य की माप का अर्थ यह है कि मुद्रा के ज़रिये ही अन्य सभी मालों के मूल्य को मापा जाता है। लेकिन मुद्रा की निश्चित इकाइयाँ होती हैं, जिसके ज़रिये मूल्य की अलग-अलग मात्राओं का विनिमय होता है। मिसाल के तौर पर, 1 रुपये में 4 आने, 1 आने में 25 पैसे होते हैं। यहाँ मुद्रा क़ीमत के मानक की भूमिका निभा रही है, यानी मुद्रा-माल की अलग-अलग मात्राएँ जो कि स्वर्ण व चाँदी की मुद्रा के दौर में उनके अलग-अलग वज़न का प्रतिनिधित्व करतीं थी। ये मानक किसी भी अर्थव्यवस्था में राज्यसत्ता तय करती है जिसके ज़रिये मुद्रा-माल (सोना या चाँदी) की अलग-अलग मात्राओं को मुद्रा के मूल्य-वर्ग के रूप में निर्धारित किया जाता है और राज्यसत्ता ही इन अलग-अलग मूल्य-वर्गों को नाम भी देती है। मिसाल के तौर पर, मान लें कि एक टन लोहे में लगा अमूर्त मानवीय श्रम एक किलोग्राम सोने में लगे अमूर्त मानवीय श्रम के बराबर है। तो दोनों का मूल्य समान हुआ और 1 टन लोहे के मूल्य को मुद्रा के रूप में सोने की एक निश्चित मात्रा, 1 किलोग्राम, अभिव्यक्त करती है। यह मूल्य की माप के रूप में मुद्रा के प्रकार्य को प्रदर्शित करता है। अगर 1 ग्राम सोने को राज्यसत्ता 1 रुपये के बराबर मानती है, तो 1 टन लोहे का दाम हुआ रुपये 1000। यहाँ माल है लोहा, जिसकी मात्रा है 1 टन; मूल्य की माप है 1 किलोग्राम सोना; और दाम का मानक है रु. 1000 जो कि 1 किलो सोने के बराबर है, या रु. 1 जो 1000 ग्राम सोने का प्रतिनिधित्व करता है।

मूल्य की माप के रूप में मुद्रा का मालों से रिश्ता बदल सकता है। यदि तमाम मालों के उत्पादन में उत्पादकता बढ़ती है और उनका श्रम-मूल्य घटता है और सोने/चाँदी के उत्पादन में ऐसा नहीं होता या उसकी उत्पादकता में होने वाला परिवर्तन ठीक उसी अनुपात में और उसी दिशा में नहीं है तो मूल्य की माप में रूप में मुद्रा का समस्त मालों से रिश्ता बदल जायेगा। लेकिन इससे दाम के मानक के रूप में मुद्रा की भूमिका पर कोई भी फ़र्क नहीं पड़ेगा। 1 पैसे का 4 आने से वही रिश्ता होगा जो कि पहले था और 4 आने का 1 रुपये से भी वही रिश्ता होगा जो कि पहले था। मार्क्स लिखते हैं:

"मूल्य की माप और दाम के मानक के रूप में मुद्रा दो बिल्कुल अलग प्रकार्य पूरे करती है। मूल्य की माप के रूप में यह मानव श्रम का सामाजिक अवतरण है; किसी धातु के तय वज़न वाली एक निश्चित मात्रा के रूप में यह दाम का मानक है। मूल्य की माप के रूप में यह सभी मालों के मूल्य को दामों में, यानी सोने की काल्पनिक मात्राओं में परिवर्तित करने का काम करती है; दाम के मानक के रूप में वह सोने की इन मात्राओं को मापने का काम करती है। मूल्यों की माप के तौर पर यह **मूल्यों के रूप में मालों को** मापती है; इसके विपरीत, **दाम के मानक के तौर पर यह सोने की विभिन्न मात्राओं को सोने की एक इकाई मात्रा के द्वारा मापती है,** न कि **सोने की एक मात्रा के मूल्य** की **किसी दूसरी मात्रा के वज़न** से मापती है। दाम के मानक के लिए, सोने के एक निश्चित वज़न को मापन की इकाई के तौर पर निर्धारित करना अनिवार्य है।" (कार्ल मार्क्स, 1982, *पूँजी,* खण्ड-1, पेंगुइन संस्करण, पृ. 192, *ज़ोर हमारा*)

स्पष्ट है कि मुद्रा की इन दो भूमिकाओं को समझना और उनमें फ़र्क करना ज़रूरी है। मुद्रा इन दोनों भूमिकाओं को तभी व्यापक और सामाजिक तौर पर निभा सकती है जब उसे राज्यसत्ता द्वारा क़ानूनी मान्यता प्राप्त हो। यह बात समझना इसलिए भी ज़रूरी है कि बाद में ऐसी काग़ज़ी मुद्रा के पैदा होने की परिघटना को समझने के लिए यह अनिवार्य है, जो कि सोने द्वारा समर्थित नहीं है, यानी जो स्वर्ण-मुद्रा की प्रतिनिधि या प्रतीक नहीं है, जिसमें कि सोने की मुद्रा के भौतिक अस्तित्व को उसके प्रकार्यात्मक अस्तित्व ने निगल लिया हो। सरल भाषा में, जिसमें अब भौतिक तौर पर सोने की मुद्रा संचरण में नहीं है, लेकिन उसके प्रकार्य को यानी उसके काम को उसकी प्रतिनिधि या प्रतीक काग़ज़ी मुद्रा कर रही है।

आगे बढ़ने से पहले एक ज़रूरी बात की ओर इंगित करना उपयोगी होगा। **किसी ऐसी चीज़ की क़ीमत या दाम हो सकता है, जिसका कोई मूल्य न हो।** मिसाल के तौर पर, ज़मीन मानवीय श्रम से नहीं पैदा हुई है। वह प्राकृतिक संसाधन है जो कि मात्रा में सीमित है। ऐसे में, ज़मीन का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि वह श्रम का उत्पाद नहीं है। मूल्य और कुछ नहीं बल्कि किसी उत्पाद या सेवा के रूप में भौतिक-रूप ग्रहण कर चुका अमूर्त मानवीय श्रम ही है। इसलिए ज़मीन का कोई मूल्य नहीं होता। लेकिन अगर ज़मीन का निजी मालिकाना पैदा हो जाता है तो उसकी भी ख़रीद-फ़रोख़्त होने लगती है और इसलिए उसकी भी एक क़ीमत हो जाती है। लेकिन तब भी उसका कोई मूल्य नहीं होता है। ज़मीन का मालिक वर्ग उसके लगान या उसकी क़ीमत के ज़रिये पूरे समाज से एक शुल्क या ख़िराज (tribute) की वसूली करता है और इसीलिए यह सबसे परजीवी और प्रतिक्रियावादी वर्ग होता है, चाहे वह पूँजीवादी ज़मीन्दार हो या फिर सामन्ती ज़मीन्दार।

## मुद्रा, या मालों का संचरण

मुद्रा मालों की ख़रीद-फ़रोख़्त के माध्यम का काम करती है। यानी यह मालों के संचरण और उनके रूपान्तरणों (metamorphoses) का काम करती है। **माल के रूपान्तरण से हमारा क्या अर्थ है?** माल के रूपान्तरण का अर्थ है माल का मुद्रा में तब्दील होना और फिर वापस मुद्रा से माल में तब्दील होना। यह मालों के संचरण की बुनियादी विशिष्टता है। इसका अर्थ है एक माल उत्पादक ने अपना माल ख़रीदार को बेचा और उसके हाथ में मुद्रा आयी; इस मुद्रा से उसने अपने लिए आवश्यक मालों को ख़रीदा। यह प्रक्रिया साधारण लेन-देन (barter) से अलग है, जिसमें माल सीधे एक-दूसरे माल से मुदा की मध्यस्थता के बिना बदला जा रहा है। इस साधारण लेन-देन को दिखलाने का सूत्र है:

*माल — माल (माल की सीधे दूसरे माल से अदला-बदली)*

जबकि मालों के संचरण (circulation of commodities) को दिखलाने का सूत्र है:

*माल — मुद्रा — माल (मा - मु - मा)*

जैसा कि हम देख सकते हैं मालों के संचरण में दो रूपान्तरण मौजूद हैं। पहला, *मा-मु* या माल-मुद्रा, यानी माल का मुद्रा में तब्दील होना, उसका बिकना। यह अपने आप में एक जोखिम भरा क़दम है। माल उत्पादक का माल बिकेगा या नहीं यह इस पर निर्भर करता है कि उसके माल को ख़रीदार मिलेगा या नहीं। उसे ख़रीदार मिलेगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि उसका माल एक सामाजिक उपयोग-मूल्य है या नहीं। उसका माल सामाजिक उपयोग-मूल्य है या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि सामाजिक श्रम विभाजन गुणात्मक रूप से और परिमाणात्मक रूप से कैसा है। यदि उक्त माल की आपूर्ति ज़रूरत से ज़्यादा होती है, यानी उक्त माल के उत्पादन में सामाजिक तौर पर आवश्यकता से अधिक श्रम लगा हुआ है, तो या तो यह माल बिकेगा ही नहीं या अपने मूल्य से कम दाम पर बिकेगा। चाहे उस माल के उत्पादन में अलग से सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम (यानी, उक्त माल के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादन की औसत स्थितियों से निर्धारित होने वाली सामाजिक श्रम की मात्रा) लगा हो तो भी यदि उसकी आपूर्ति आवश्यकता से ज़्यादा होती है तो उसमें लगे श्रम को समाज सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के तौर पर नहीं पहचानेगा और या तो वह बिकेगा ही नहीं या फिर अपने मूल्य से कम दाम पर बिकेगा। **गुणात्मक सामाजिक श्रम विभाजन श्रम के उत्पादों को माल में तब्दील करता है और परिमाणात्मक सामाजिक श्रम विभाजन उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त को एक संयोग का मसला बना देता है।** यदि कुल सामाजिक श्रम का आवश्यकता से ज़्यादा हिस्सा किसी विशिष्ट माल के उत्पादन में लगा है और नतीजतन वह माल अपने मूल्य से कम दाम पर बिकता है, तो बाज़ार स्थितियाँ अन्ततः इस सामाजिक श्रम विभाजन को तब्दील कर देंगी। सामाजिक श्रम की कुछ मात्रा उक्त माल के उत्पादन के क्षेत्र से स्थानान्तरित होकर किसी ऐसे माल के उत्पादन के क्षेत्र में चली जायेगी जहाँ किसी माल की आपूर्ति उसके लिए मौजूद प्रभावी माँग से कम है और वह अपने मूल्य से अधिक बाज़ार-क़ीमत पर बिक रहा है। बाज़ार-क़ीमत और मूल्य में अलग-अलग मालों के स्तर पर आने वाले सभी अन्तर सामाजिक तौर पर एक-दूसरे को ख़ारिज कर देते हैं और कुल मूल्य कुल बाज़ार-क़ीमत के बराबर ही रहता है, क्योंकि हर ख़रीद एक बिकवाली है और हर बिकवाली एक ख़रीद भी है। ख़रीदार के हाथ में जो मुद्रा है, वह भी उसकी बिकवाली का ही नतीजा है। इसलिए मालों के रूपान्तरण आपस में अन्तर्गुंथित होते हैं, आपस में बँधे होते हैं, एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। बहरहाल, इतना आसानी से समझा जा सकता है कि माल का बिकना, यानी किसी माल उत्पादक के लिए माल का पहला रूपान्तरण किसी माल उत्पादक अर्थव्यवस्था में कोई पूर्वप्रदत्त तथ्य नहीं होता है, बल्कि एक संयोग का मसला होता है, जिसमें तमाम जोखिम शामिल होते हैं।

दूसरा रूपान्तरण किसी माल उत्पादक के लिए सरल है। क्योंकि दूसरे रूपान्तरण, यानी, *मु-मा* (मुद्रा-माल) के दौरान उसके हाथ में कोई साधारण माल नहीं, बल्कि मुद्रा है, जो कि सार्वभौमिक समतुल्य है, निरपेक्ष रूप से विनिमेय (absolutely alienable) है जिसका *विनिमय किसी भी माल से किया जा सकता है।* यह मालों के बीच का ईश्वर है! मुद्रा से माल उत्पादक अपने लिए आवश्यक सभी उत्पादन व उपभोग की सामग्रियाँ ख़रीद सकता है। इसके साथ माल संचरण का सर्किट पूरा हो जाता है, दोनों रूपान्तरण पूरे हो जाते हैं। *मा-मु-मा* के पूरा होने के साथ दोनों छोरों पर हमें माल मिलता है; ये दोनों माल उपयोग-मूल्य के तौर पर भिन्न हैं, यानी ये दोनों अलग-अलग माल हैं; लेकिन मूल्य के तौर पर दोनों में कोई अन्तर नहीं है; यानी, दोनों उपयोग-मूल्यों का मूल्य समान है। **यह माल संचरण के समूचे सूत्र की विशिष्टता है: इसमें दोनों छोरों पर भौतिक तौर पर अलग-अलग माल (उपयोग-मूल्य) होते हैं, जिनका मूल्य समान होता है और जिनका विनिमय मुद्रा की मध्यस्थता से होता है।** जब दोनों माल अपने ख़रीदार के पास पहुँचते हैं, तो वे उत्पादन व संचरण दोनों के ही क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, उनका उपभोग कर लिया जाता है और वे संचरण से बाहर चले जाते हैं।

एक माल उत्पादक के माल के रूपान्तरण कई अन्य माल उत्पादकों के मालों के रूपान्तरण से अन्तर्गुंथित होते हैं। मसलन, पहले माल उत्पादक ने जिस माल उत्पादक को अपना माल बेचा, उसके पास जो मुद्रा थी, वह स्वयं उसके द्वारा अपने माल को बेचने से ही आयी थी, और ऐसा ही उस तीसरे माल उत्पादक पर भी लागू होता है, जिसने दूसरे माल उत्पादक से माल ख़रीदा था। इस प्रकार, मालों के रूपान्तरण के तमाम सर्किट आपस में जुड़े होते हैं। **इसी को हम मालों का संचरण कहते हैं।** इस प्रक्रिया में मालों के उपभोग के साथ

(पेज 13 पर जारी)

# मालों का संचरण और मुद्रा

(पेज 12 से आगे)

स्वयं माल तो इस प्रक्रिया से बाहर चले जाते हैं, लेकिन मुद्रा के साथ ऐसा नहीं होता। वह एक सर्किट के समाप्त होने के बाद भी मालों के विनिमय में मध्यस्थता का काम करती रहती है, वह मालों द्वारा ख़ाली की जा रही जगहों को भरती रहती है और अनथक इस संचरण में घूमती रहती है। जैसा कि मार्क्स ने अपनी सुन्दर साहित्यिक शैली में बताया: **"मालों का संचरण हर रन्ध्र से पसीने के समान मुद्रा को निकालते रहता है।"** (कार्ल मार्क्स, *वही,* पृ. 208) यानी, मुद्रा का यह सतत् घूमते रहना और मालों के विनिमय में मध्यस्थता का काम करते रहना, मालों द्वारा ख़ाली की जा रही जगहों को भरते जाना जारी रहता है। **इसी को मार्क्स ने मुद्रा का चलन (currency of money) कहा।**

मार्क्स ने बताया कि मुद्रा का यह चलन मालों के संचरण का कारण नहीं है, बल्कि उसका परिणाम है। सामान्य तौर पर, लोगों को यह लगता है कि यदि मालों की ख़रीद-फ़रोख़्त सुचारू तरीके से नहीं चल रही है, तो इसकी वजह यह है कि मुद्रा की, यानी विनिमय के माध्यम की भूमिका निभाने वाली सामग्री की कमी हो गयी है। लेकिन यह एक दृष्टिभ्रम है। मालों की ख़रीद-फ़रोख़्त में कमी आने के कारण कुछ और होते हैं। मालों की सुचारू और गतिशील रूप से ख़रीद होने पर मुद्रा का चलन भी तेज़ दर से होता है। मालों के संचरण में बाधा पड़ने पर यह चलन भी बाधित होता है। लेकिन इसमें निर्धारक भूमिका स्वयं मालों के उत्पादन और उनके संचरण की है, न कि मुद्रा की मात्रा की।

**तो फिर किसी भी समय किसी अर्थव्यवस्था में आवश्यक मुद्रा की मात्रा का निर्धारण कैसे होता है?** ह्यूम व रिकार्डो जिनका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं, उनका ऐसा मानना था कि मालों की क़ीमतों का स्तर मुद्रा की आपूर्ति से तय होता है। यह भी मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से ही निकल कर आने वाला तर्क था। मार्क्स ने बताया कि यह उल्टी बात है। मार्क्स ने बताया कि यह स्वयं मालों का संचरण ही है जो तय करता है कि मुद्रा की मात्रा क्या होनी चाहिए। **संचरण में मौजूद सभी मालों की कुल क़ीमत वह पहला कारक है, जो उनके संचरण के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा को निर्धारित करती है।** लेकिन यदि मालों के संचरण में मौजूद कुल मालों की कुल क़ीमत रु. 1 करोड़ है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके संचरण के लिए रु. 1 करोड़ के बराबर मुद्रा की आवश्यकता होगी। **क्यों?** क्योंकि मुद्रा के समान नोट या सिक्के कई माल विनिमयों को अंजाम दे सकते हैं। **अलग-अलग मूल्य-वर्ग में मुद्रा के नोट व सिक्के औसतन कितने विनिमयों को अंजाम देते हैं, इसे मुद्रा का वेग (velocity of money) कहा जाता है।** सभी मूल्य-वर्गों में मुद्रा के अलग-अलग नोटों व सिक्कों की संख्या व उनके वेग के आधार पर मुद्रा के वेग की गणना की जा सकती है और इसी के आधार पर मुद्रा जारी की जाती है। जहाँ तक स्वर्ण या चाँदी की मुद्रा या उनका प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य धातुओं के सिक्कों या परिवर्तनीय (convertible) काग़ज़ी मुद्रा का प्रश्न है, तो मामला सरल है: यदि आवश्यकता से अधिक मुद्रा जारी की जाती है, तो वह संचरण से बाहर जाकर निष्क्रिय हो जाती है और उसके निष्क्रिय ढेर बन जाते हैं। लेकिन अगर अपरिवर्तनीय (inconvertible) काग़ज़ी मुद्रा की बात करें, तो किसी देश में माल संचरण में मौजूद कुल मालों की कुल क़ीमत व मुद्रा के वेग से तय होने वाली स्वर्ण-मुद्रा की मात्रा से ज़्यादा अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा जारी की जाती है, तो उस काग़ज़ी मुद्रा का मूल्य गिर जायेगा। **स्वर्ण-मुद्रा में मालों का मूल्य इससे प्रभावित नहीं होता है, लेकिन अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा का मूल्य गिरने के कारण उस काग़ज़ी मुद्रा में मालों की क़ीमत गिर जायेगी क्योंकि स्वर्ण-मुद्रा की तुलना में अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा का मूल्य गिर जायेगा।** इसे मार्क्स के ही उदाहरण से समझते हैं:

"कागज़ के वे टुकड़े जिन पर मुद्रा-नाम मुद्रित होता है, जैसे कि 1 पाउण्ड, 5 पाउण्ड, आदि, राज्यसत्ता द्वारा बाहर से संचरण की प्रक्रिया में डाले जाते हैं। जिस हद तक वे सोने की समान मात्रा की जगह वास्तव में संचरित होते हैं, उस हद तक उनकी हरक़त मौद्रिक संचरण के नियमों का ही प्रतिबिम्बन मात्र है। काग़ज़ी मुद्रा के संचरण पर विशिष्ट तौर पर लागू होने वाला कोई नियम केवल उस अनुपात से ही पैदा हो सकता है जिस अनुपात में काग़ज़ी मुद्रा सोने की नुमाइन्दगी करती है। साधारण शब्दों में कहें तो वह नियम कुछ इस प्रकार है: काग़ज़ी मुद्रा की जारी की जाने वाली मात्रा सोने (या चाँदी) की उस मात्रा तक सीमित होनी चाहिए जो वास्तव में संचरण में होती, और जिसकी प्रतीकात्मक तौर पर अब काग़ज़ी मुद्रा नुमाइन्दगी कर रही है। अब, यह सच है कि संचरण के क्षेत्र द्वारा सोखी जा सकने वाली सोने की मात्रा एक निश्चित औसत स्तर के ऊपर-नीचे घटती-बढ़ती रहती है। लेकिन इसके बावजूद, किसी भी देश में संचरण का माध्यम कभी भी एक निश्चित न्यूनतम मात्रा के नीचे नहीं गिरता है, जिसका निर्धारण अनुभव के आधार पर किया जा सकता है। यह न्यूनतम मात्रा अपने संघटक अंगों के रूप में लगातार परिवर्तित होती रहती है, या सोने के वे टुकड़े जिसके द्वारा यह समूची मात्रा बनती है, लगातार बदले जाते रहते हैं, इस तथ्य का स्वाभाविक तौर पर इसकी कुल राशि पर या उस निरन्तरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिसके साथ यह संचरण के क्षेत्र में प्रवाहित होती रहती है। इसके काग़ज़ी प्रतीक इनकी जगह ले सकते हैं। लेकिन, अगर संचरण के सारे मार्ग आज मुद्रा को पूर्ण रूप से सोखने की क्षमता रखने वाली काग़ज़ी मुद्रा से भर जायें, तो अगले दिन मालों के संचरण में आने वाले उतार-चढ़ावों के कारण वे ज़रूरत से ज़्यादा भरे हुए हो सकते हैं। तब फिर कोई मानक नहीं रह जायेगा। अगर काग़ज़ी मुद्रा अपनी उपयुक्त सीमा से ज़्यादा होती है, यानी उन्हीं मूल्य-वर्गों के सोने के सिक्कों की वह राशि जो कि संचरण में हो सकती थी, तो सार्वभौमिक तौर पर अपना भरोसा खो देने के ख़तरे के अलावा, यह मालों की दुनिया में सोने की उसी मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगी जो कि उसके आन्तरिक नियमों से तय होती है। इससे ज़्यादा मात्रा की काग़ज़ी मुद्रा द्वारा नुमाइन्दगी का प्रश्न ही नहीं उठता। अगर काग़ज़ी मुद्रा उपलब्ध सोने की मात्रा की दोगुनी मात्रा का प्रतिनिधित्व करती है, तो फिर व्यवहारत: 1 पाउण्ड 1/4 आउंस सोने का मुद्रा-नाम नहीं रह जायेगा, बल्कि यह 1/8 आउंस सोने का नाम बन जायेगा। प्रभाव कुछ वही होगा जो कि क़ीमत के मानक होने के सोने के प्रकार्य में परिवर्तन होने पर हुआ होता। यानी पहले 1 पाउण्ड क़ीमत जितने मूल्य को अभिव्यक्त करती थी, अब 2 पाउण्ड क़ीमत उस मूल्य को अभिव्यक्त करेगी।" (कार्ल मार्क्स, *वही,* पृ. 224-25)

इसलिए मार्क्स बताते हैं कि मुद्रा की मात्रा मालों के संचरण से तय होती है और इसलिए वास्तविक कीमतों के निर्धारण का पैमाना मुद्रा की मात्रा नहीं है, बल्कि स्वयं माल संचरण की स्थितियाँ हैं। इन स्थितियों के दो प्रमुख कारक हैं : माल संचरण में मौजूद समस्त मालों की कुल क़ीमत और मुद्रा का वेग। इसे एक समीकरण के तौर पर इस प्रकार समझ सकते हैं :

**मुद्रा की मात्रा = समस्त मालों की कुल क़ीमत/मुद्रा का वेग**

यानी,

$Q_m = \Sigma P / V_m$

जहाँ,

$Q_m$ = *मुद्रा की मात्रा*

$\Sigma P$ = *समस्त मालों की कुल क़ीमत*

$V_m$ = *मुद्रा का वेग*

इसे एक बिल्कुल सरल उदाहरण से समझें। मान लें कि कुल मालों की कुल क़ीमत रु. 100 है। यदि मुद्रा का औसत वेग 1 है, तो फिर कुल मुद्रा की मात्रा भी उतनी चाहिए होगी, यानी रु. 100। मान लें कि समाज में एक ही मूल्य-वर्ग में मुद्रा का चलन है : रु. 10। ऐसे में, रु. 10 के 10 नोटों या सिक्कों की आवश्यकता होगी। लेकिन मान लें कि औसतन 10 रु. का एक नोट दो माल विनिमयों को पूरा करता है, तो मुद्रा का औसत वेग 2 हो जायेगा। ऐसे में, रु. 50 की राशि की मुद्रा रु. 100 की क़ीमत वाले मालों का संचरण करने के लिए पर्याप्त होगी। अर्थव्यवस्था के वास्तविक अनुभवों के आधार पर किसी अर्थव्यवस्था में किसी दिये गये समय में मुद्रा के औसत वेग का आकलन किया जा सकता है और तमाम अर्थशास्त्री करते भी हैं। इसके अनुसार, मालों के उत्पादन व संचरण में आने वाले उतार-चढ़ावों के अनुसार जारी की जाने वाली मुद्रा की मात्रा का निर्धारण किया जाता है, जो कभी भी बिल्कुल सटीक नहीं हो सकता है क्योंकि माल उत्पादन की प्रक्रिया ही उथल-पुथलभरी और अराजक होती है। लेकिन एक लगभग-मात्रा के तौर पर, एक जारी प्रक्रिया के तौर पर अर्थव्यवस्था में इसका निर्धारण किया जाता रहा है।

यदि मुद्रा का वेग अधिक है, तो यह दिखलाता है कि मालों का संचरण सुचारू रूप से चल रहा है, उसमें ज़्यादा बाधाएँ नहीं हैं, सामाजिक श्रम विभाजन परिमाणात्मक तौर पर अपेक्षाकृत सही स्थिति में है क्योंकि यह दिखलाता है कि मालों की ख़रीद-फ़रोख़्त अच्छे प्रवाह के साथ हो रही है, उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच का अन्तरविरोध अपेक्षाकृत अधिक सहज रूप से सँभाला जा रहा है। लेकिन यदि मुद्रा के वेग में ठहराव है तो यह मालों के संचरण में ठहराव और बाधा को दिखलाता है, मालों की ख़रीद-फ़रोख़्त में परेशानियों को दिखलाता है और दिखलाता है कि उपयोग-मूल्य व मूल्य का अन्तरविरोध अर्थव्यवस्था में सही ढंग से सँभाला नहीं जा पा रहा है। लेकिन माल उत्पादकों को ऐसा दिखलायी पड़ता है कि मुद्रा की कमी की वजह से यह हो रहा है।

## मूल्य के प्रतीक

**सिक्के या आगे चलकर काग़ज़ी नोट और कुछ नहीं हैं, बल्कि मूल्य के प्रतीक हैं।** सोना मुद्रा-माल के तौर पर मालों के संचरण के माध्यम की भूमिका निभा सके इसके लिए यह अनिवार्य होता है कि वह सिक्कों का रूप ले, जो कि स्वयं और कुछ नहीं बल्कि सोने की एक निश्चित मात्रा का वज़न होते हैं, जो मात्रा काल्पनिक तौर पर मालों की क़ीमतों में अभिव्यक्त होती है। माल संचरण में इन सिक्कों को इन मालों से वास्तविक तौर पर मुलाकात करनी होती है। इसी को ख़रीद या बिकवाली कहते हैं, जब मालों का एक निश्चित क़ीमत पर इन सिक्कों से विनिमय होता है। इन सिक्कों को ढालने का काम राज्य करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे क़ीमत के मानकों को वह निर्धारित करता है। लेकिन विश्व बाज़ार में तमाम मुद्राएँ अपना ये विशिष्ट रूप, यानी अपनी "राष्ट्रीय पोशाकें" छोड़कर अपने मूल-रूप में आ जाती हैं, यानी सोने के रूप में। सोने और मुद्रा में अन्तर केवल भौतिक रूप का होता है और यह माल संचरण के क्षेत्र और आवश्यकता के अनुसार एक रूप से दूसरे रूप में जा सकता है।

मार्क्स बताते हैं कि मालों के संचरण की प्रक्रिया में सोने के सिक्कों का क्षरण होता है। नतीजतन, वे सोने की ठीक उस मात्रा का प्रतिनिधित्व करने योग्य नहीं रह जाते हैं, जिसकी मुहर क़ीमत के मानक के तौर पर राज्य की टकसाल उस पर लगाती है। मसलन, यदि 1 रुपया 0.1 ग्राम सोने का प्रतिनिधित्व करता था, तो माल संचरण के दौरान घिसाई के कारण वह भौतिक तौर पर अब 0.05 ग्राम का ही रह गया, लेकिन प्रकार्यात्मक व प्रतीकात्मक तौर पर वह अभी भी 0.1 ग्राम सोने का ही प्रतिनिधित्व करता है। इसके कारण, मध्य-युग के पहले से ही पूरी दुनिया में राज्यसत्ताओं ने सिक्कों की वास्तविक स्वर्ण अन्तर्वस्तु को घटाना और उसे अन्य धातुओं के साथ मिश्रित करना और बाद में पूर्णत: अन्य धातुओं जैसे ताँबा, काँसा आदि के सिक्के ढालने शुरू कर दिये, जो प्रकार्यात्मक और प्रतीकात्मक तौर पर अभी भी सोने की उतनी ही भौतिक मात्रा का प्रतिनिधित्व करते थे। इससे तमाम राजतन्त्रों को अपने राजकीय ख़र्चों, ऐय्याशी और शासक वर्ग के ऐशो-आराम का इन्तज़ाम करने का मौका मिला और साथ ही राजकीय ऋणों को चुकाना भी आसान हो गया।

तो इस प्रकार सिक्कों की वास्तविक अन्तर्वस्तु और उनकी **नॉमिनल** यानी उनकी अंकित अन्तर्वस्तु में अन्तर पैदा हो गया, जिसने उनके **धात्विक-भौतिक अस्तित्व** को उनके *प्रतीकात्मक-प्रकार्यात्मक अस्तित्व* से अलग कर दिया। इसी चीज़ ने काग़ज़ी मुद्रा के जन्म की ज़मीन तैयार की क्योंकि यदि सोने की एक विशिष्ट मात्रा की (जो कि स्वयं मूल्य की माप और दाम का मानक है) प्रतीकात्मक व प्रकार्यात्मक तौर पर ताँबे या काँसे के सिक्के द्वारा नुमाइन्दगी की जा सकती है, तो यह काम किसी और सामग्री से बना कोई और प्रतीक क्यों नहीं कर सकता? यही स्थिति काग़ज़ी मुद्रा के उद्भव और विकास का आधार थी। ऐसी काग़ज़ी मुद्रा के लिए केवल सामाजिक और क़ानूनी वैधता की आवश्यकता थी जो कि राज्यसत्ता देती है।

यह संक्रमण इसलिए भी अपरिहार्य था क्योंकि बेहद कम मूल्य के मालों और बेहद कम मात्रा में विनिमय के लिए सोने की बेहद छोटी मात्रा का सिक्का बनाना मुश्किल था। नतीजतन, सोने की बेहद छोटी मात्राओं की नुमाइन्दगी करने वाले अन्य धातुओं के सिक्कों और बाद में काग़ज़ी नोटों का आना लाज़िमी था। ये छोटे सिक्के और भी तेज़ी से क्षरण का शिकार होते थे। इसने काग़ज़ी मुद्रा के उद्भव में विशेष भूमिका निभायी। ज़ाहिरा तौर पर, इन्हें जारी करने का काम भी राज्यसत्ता ही कर सकती है क्योंकि उसके द्वारा वैधिक अनुमोदन और भरोसे के बिना एक काग़ज़ी नोट क्या है? महज़ कागज़ का एक टुकड़ा जिसे कोई भी मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करेगा, यदि उसके पीछे राज्य का क़ानूनी वैधीकरण और अनुमोदन न खड़ा हो। जैसा कि हमने ऊपर बताया, पहले सभी काग़ज़ी नोट सोने के साथ परिवर्तनीय (convertible) थे और राज्य वायदा करता था कि किसी भी काग़ज़ी नोट पर दर्ज अंकित दाम के अनुसार वास्तविक सोने का विनिमय वह माँग करने पर करेगा। कोई ऐसा करता नहीं था क्योंकि आपवादिक स्थितियों को छोड़कर इसकी कोई ज़रूरत नहीं थी, लेकिन कोई भी ऐसी माँग करता तो उसे पूरा करना राज्य के लिए अनिवार्य होता था। इसीलिए कोई भी राज्य माल उत्पादन की मात्रा और उसके अनुरूप अपने सोने के रिज़र्व के आधार पर ही काग़ज़ी नोट जारी करता था। अपरिवर्तनीय काग़ज़ी नोटों (inconvertible paper notes) के आने के साथ तमाम राज्यों ने माल उत्पादन व सोने के रिज़र्व से अधिक

**(पेज 14 पर जारी)**

# मालों का संचरण और मुद्रा

(पेज 13 से आगे)

काग़ज़ी मुद्रा जारी की, जिसका नतीजा था काग़ज़ी नोट का अवमूल्यन और मुद्रास्फीति। इससे न तो माल उत्पादन की वास्तविक मात्रा पर कोई फ़र्क पड़ता था, न ही उसके वास्तविक मूल्य पर कोई फ़र्क पड़ता था, न सोने के वास्तविक मूल्य व मात्रा पर कोई फ़र्क पड़ता था और न ही मालों के सोने में दाम (सोने के साथ उसके विनिमय की दर) पर कोई फ़र्क पड़ता था। यदि फ़र्क पड़ता था तो केवल (एक माल के तौर पर सोने समेत) सभी मालों के काग़ज़ी मुद्रा में अभिव्यक्त होने वाले दामों पर पड़ता था। वजह यह कि अभी भी यह अपरिवर्तनीय पेपर नोट स्वर्ण-मुद्रा द्वारा समर्थित थे, अभी भी सोना ही मूल्य की वास्तविक माप का काम कर रहा था, चाहे काग़ज़ी नोट का 1 रुपया पहले 0.1 ग्राम सोने का प्रतिनिधित्व करता हो, और बाद में स्वर्ण-मुद्रा से अधिक अनुपात में जारी होने के कारण अब 2 रुपया 0.1 ग्राम का प्रतिनिधित्व करता हो। इससे बस वही फ़र्क पड़ता है जो कि तब पड़ता जबकि क़ीमत के मानकों में राज्यसत्ता परिवर्तन कर देती, यानी वह कहती कि जितना मूल्य पहले 1 रुपये के क़ीमत-नाम से अभिव्यक्त होता था, वह अब 2 रुपये के क़ीमत-नाम से अभिव्यक्त होगा। **लेकिन इसका एक फर्क और पड़ता है। यदि अपरिवर्तनीय काग़ज़ी नोट आवश्यकता से ज़्यादा मात्रा में जारी होते हैं और उनका अवमूल्यन होता है, यानी मुद्रास्फीति होती है, तो मज़दूरी या वेतन पाने वाले वर्ग की वास्तविक आय घट जाती है।** पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के संघर्ष द्वारा मज़दूरी बढ़ाये जाने के जवाब में कई बार तयशुदा मुद्रास्फीति का रास्ता अपनाता है, ताकि मज़दूरों की नॉमिनल यानी नाममात्र की मज़दूरी तो उतनी ही रहे, लेकिन वास्तविक मज़दूरी घट जाये और उनका मुनाफ़ा बढ़ जाये।

**यह ध्यान रहना चाहिए कि यह 'अपरिवर्तनीय' (inconvertible) शब्द थोड़ा भ्रामक है। किसी भी माल उत्पादक व्यवस्था में मुद्रा हमेशा मालों में परिवर्तनीय होती है। बस अपरिवर्तनीय काग़ज़ी नोट का विनिमय सरकारी बैंक की खिड़की पर सोने के साथ नहीं होता है। कोई इस काग़ज़ी नोट के साथ बाज़ार में अवश्य सोना ख़रीद ही सकता है।**

अगले अध्याय में हम देखेंगे कि जब स्वर्ण-समर्थित काग़ज़ी नोट की जगह 1970 के दशक से सोने या किसी मुद्रा-माल द्वारा असमर्थित काग़ज़ी नोट (fiat currency not backed by any commodity-money) अस्तित्व में आयी, तो भी मार्क्स के मुद्रा के सिद्धान्त द्वारा ही उसे समझा जा सकता है, न कि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त द्वारा, जिसके अनुसार सरकार मनचाही मात्रा में मुद्रा जारी कर मुद्रा के मूल्य और क़ीमतों के औसत स्तर को तय कर देती है। हम देखेंगे कि मौजूदा काग़ज़ी मुद्रा सोने द्वारा समर्थित नहीं है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह किसी कारक द्वारा समर्थित नहीं है। अभी भी उसका मूल्य, मूल्य के श्रम सिद्धान्त द्वारा पेश नियमों द्वारा ही निर्धारित होता है, लेकिन किसी एक मुद्रा-माल (मसलन, सोना या चाँदी) द्वारा नहीं। यह कैसे होता है, यह हम अगले अध्याय में देखेंगे। अभी हम जारी चर्चा पर आगे बढ़ते हैं।

**मूल्य के इन प्रतीकों, जैसे कि अन्य धातुओं के सिक्कों व काग़ज़ी नोटों, के साथ यही होता है कि मुद्रा का भौतिक-धात्विक अस्तित्व उसके प्रकार्यात्मक-प्रतीकात्मक अस्तित्व द्वारा निगल या सोख लिया जाता है। अब भी सोना मूल्य की माप व क़ीमत का मानक है, लेकिन अब वह भौतिक तौर पर संचरण का माध्यम नहीं रह जाता है।**

## मुद्रा के कुछ अन्य प्रकार्य

मार्क्स बताते हैं कि मुद्रा वह माल है जिसका विनिमय किसी भी अन्य माल के साथ किया जा सकता है, यानी वह निरपेक्ष रूप से विनिमेय (absolutely alienable) है। वजह यह कि यह मूल्य का साक्षात अवतरण (incarnation of value) है, अवतीर्ण मूल्य (value embodied) है, मूल्य का स्वतंत्र-रूप है। **इसलिए एक माल उत्पादक समाज में यह समृद्धि का प्रमुख रूप भी बन जाती है। चूँकि यह समृद्धि का प्रमुख रूप बन जाती है इसलिए हर कोई मुद्रा को जमा करना चाहता है, उसका ढेर एकत्र करना चाहता है।** मुद्रा को जमा करना (hoarding of money) का अर्थ एक माल उत्पादक समाज में यह है कि माल का पहला रूपान्तरण यानी 'माल — मुद्रा' तो किया गया लेकिन दूसरा रूपान्तरण यानी 'मुद्रा — माल' पूरा करने की बजाय मुद्रा को जमा कर लिया गया। इस प्रवृत्ति के कारण माल उत्पादक समाज में तमाम उत्पादक अपने उपभोग को कम-से-कम करने का प्रयास करते हैं, अधिक से अधिक घण्टों तक काम करते हैं और इसके बूते कुछ बचत करने का प्रयास करते हैं। ज़ाहिर है, इनमें कुछ ही अपवाद होते हैं जो इस तरीक़े से पूँजीपति में तब्दील हो पाते हैं। पूँजीपति वर्ग के पैदा होने के प्रमुख स्रोत दूसरे होते हैं।

जमाख़ोरी के माध्यम के अलावा मुद्रा एक दूसरी प्रमुख भूमिका भी निभाती है : **भुगतान का ज़रिया।** जैसे-जैसे माल उत्पादक समाज में विनिमय के नेटवर्क सघन होते जाते हैं, वैसे-वैसे समान पक्षों के बीच बार-बार विनिमय दुहराया जाने लगता है। जब ऐसा होता है तो वे मुद्रा का इस्तेमाल भुगतान के माध्यम के रूप में करने लगते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि दोनों पक्ष जो बार-बार विनिमय करते हैं, वे सालभर मालों का विनिमय बिना मुद्रा के उपयोग के करते हैं, हालाँकि वे इन मालों के मूल्य का मापन मुद्रा में ही करते हैं, और साल के अन्त में बचने वाली राशि का भुगतान मुद्रा में किया जाता है। मसलन, मान लें, कि एक माल उत्पादक किसान और खेती उपकरण बनाने वाले कारीगर के बीच सालभर कृषि उत्पादों और कृषि उपकरणों का विनिमय होता है; साल के अन्त में, कृषि उत्पादों और कृषि उपकरणों के कुल मूल्य की आपस में तुलना के आधार पर यदि किसान ने कारीगर को रु. 100 का माल ज़्यादा दिया है तो कारीगर साल के अन्त में उसे रु. 100 का भुगतान करके विनिमय के असन्तुलन को समाप्त करता है। ऐसा ही तब भी हो सकता है जब दो मालों की उत्पादन अवधि भिन्न हो और उन्हें पैदा करने वाले माल उत्पादकों के बीच नियमित तौर पर विनिमय होता हो। ऐसे में, कम अवधि में पैदा होने वाले माल को उसका माल उत्पादक दूसरे माल उत्पादक को देता रहता है, जो कि खाते में दर्ज होता रहता है; बाद में, अधिक अवधि में पैदा होने वाले माल का माल उत्पादक पहले माल उत्पादक को अपना माल देता है और खाते में उस पर चढ़ी देनदारी को उतारता है। जैसे ही मुद्रा का भुगतान के माध्यम के तौर पर इस्तेमाल शुरू होता है, वैसे ही **गणना की मुद्रा (money of account)** के तौर पर भी मुद्रा का प्रयोग होता है। ज़ाहिर है, ऐसा होने के साथ एक माल उत्पादक और विशेषकर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अलग प्रकार के जोखिम भी पैदा होते हैं। मसलन, जिस समय किसी पक्ष की देनदारी का भुगतान होना तय है, यदि उसी समय कोई औद्योगिक व वाणिज्यिक संकट पैदा होता है, जो कि अपने साथ हमेशा ही मौद्रिक संकट भी लेकर आता है, तो यह दूसरे पक्ष के लिए ख़तरे की घण्टी होता है। मार्क्स लिखते हैं :

"भुगतान के ज़रिये के रूप में मुद्रा के प्रकार्य में एक अन्तरविरोध अन्तर्निहित है। जब भुगतान एक-दूसरे को सन्तुलित करते हैं, तो मुद्रा केवल एक गणना की मुद्रा (money of account) के रूप में, एक मूल्य के मापन के ज़रिये के रूप में काम करती है। लेकिन जब वास्तविक भुगतान किये जाने होते हैं तो मुद्रा मंच पर संचरण के एक माध्यम के रूप में, यानी, सामाजिक मेटाबॉलिज़्म में एक मध्यस्थ के संक्रमणशील रूप में, प्रकट नहीं होती है, बल्कि सामाजिक श्रम के वैयक्तिक अवतरण के रूप में प्रकट होती है, यानी विनिमय-मूल्य के स्वतंत्र अस्तित्व, सार्वभौमिक माल के रूप में प्रकट होती है। यह अन्तरविरोध औद्योगिक व वाणिज्यिक संकट के उस पहलू में फट पड़ता दिखायी देता है, जिसे हम मौद्रिक संकट के नाम से जानते हैं। ऐसा संकट केवल वहाँ प्रकट होता है जहाँ जारी भुगतानों की एक पूरी श्रृंखला पूर्णत: विकसित हो चुकी है और साथ ही उनके निपटारे की एक कृत्रिम व्यवस्था भी विकसित हो चुकी है।" (कार्ल मार्क्स, *वही*, पृ. 235-36)

मार्क्स यहाँ बता रहे हैं कि जिस साख के आधार पर तमाम माल उत्पादक आपस में मालों का विनिमय कर रहे होते हैं और भरोसे के साथ एक अवधि के बार व्यापार के नफ़े या घाटे का मुद्रा के ज़रिये भुगतान करके सन्तुलन कर रहे होते हैं, संकटकाल में वह भरोसा, वह साख चकनाचूर हो जाती है और हर कोई तत्काल अपनी लेनदारी को मुद्रा के रूप में वास्तवीकृत कर लेना चाहता है, लेकिन संकट के काल में सबकी ही लेनदारियाँ आपस में फँसी हुई और अन्तर्गुंथित होती हैं। नतीजतन, यह उधार व्यवस्था (credit system) अचानक मौद्रिक व्यवस्था (monetary system) में तब्दील हो जाती है और नकदी के रूप में अपना नफ़ा-नुकसान निर्धारित करने के लिए सारे पूँजीपतियों/माल उत्पादकों में भगदड़ मच जाती है। ऐसे दौर में मालों का महत्व धूमिल हो जाता है और माल उत्पादकों के लिए जिस चीज़ के मायने रह जाते हैं वह है स्वतंत्र मूल्य-रूप यानी मुद्रा। मार्क्स बताते हैं:

"ऋण व्यवस्था का यह अचानक मौद्रिक व्यवस्था में तब्दील हो जाना पहले से वास्तव में मौजूद भय के माहौल में सैद्धान्तिक अचम्भे की भावना भी जोड़ देता है, और संचरण की प्रक्रिया के अभिकर्ता अपने ही सम्बन्धों के इर्द-गिर्द मौजूद अभेद्य रहस्य के पर्दे से मानो आतंकित से हो जाते हैं।" (कार्ल मार्क्स, 1977, *ए कॉण्ट्रीब्यूशन टू दि क्रिटीक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनमी*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 146)

बहरहाल, जैसे-जैसे भुगतान के माध्यम के रूप में और गणना की मुद्रा के तौर पर मुद्रा का प्रयोग होता है, वैसे-वैसे मुद्रा का वेग और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि मुद्रा के भौतिक तौर पर उपयोग के बिना यानी संचरण के भौतिक माध्यम के रूप में मुद्रा के इस्तेमाल के बिना मालों की अच्छी-ख़ासी मात्रा का विनिमय हो जाता है। इसी प्रक्रिया में एक क्रेडिट या ऋण तंत्र का विकास भी होता है। क्रेडिट-मुद्रा का उद्भव वास्तव में प्रत्यक्ष तौर पर मुद्रा के भुगतान के ज़रिये के तौर पर इस्तेमाल से ही होता है और साथ ही जैसे-जैसे इस क्रेडिट-मुद्रा का विकास होता है, वैसे-वैसे मुद्रा का भुगतान के ज़रिये के तौर पर उपयोग और भी बढ़ता है। मार्क्स लिखते हैं :

"क्रेडिट-मुद्रा (ऋण- या उधार-मुद्रा) भुगतान के ज़रिये के रूप में मुद्रा के इस्तेमाल से पैदा होती है, जैसे कि उन उधार-प्रमाणपत्रों में जो कि पहले ही ख़रीदे गये मालों के लिए दिये गये हैं, और ये उधार-प्रमाणपत्र ही अपने उधार को दूसरों पर स्थानान्तरित करने हेतु संचरित होने लगते हैं। दूसरी ओर, भुगतान के ज़रिये के रूप में मुद्रा का प्रकार्य भी उसी अनुपात में विस्तारित होता है जिस अनुपात में क्रेडिट-मुद्रा विस्तारित होती है। भुगतान के ज़रिये के तौर पर प्रयोग होने वाली मुद्रा अपने अस्तित्व के विशिष्ट रूपों को ग्रहण करती जाती है, जिसमें कि यह बड़े पैमाने के वाणिज्यिक लेन-देन के क्षेत्र में मौजूद रहती है। दूसरी ओर, सोने और चाँदी के सिक्के अधिकांशत: खुदरा व्यापार के क्षेत्र तक सीमित रह जाते हैं।" (कार्ल मार्क्स, 1982, *पूँजी,* खण्ड-1, पेंगुइन संस्करण, पृ. 238)

यानी, जैसे-जैसे भुगतान के ज़रिये के तौर पर मुद्रा का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे लेनदारियों व देनदारियों के प्रमाण-पत्र संचरित होने लगते हैं और भुगतान लेने या देने का ज़रिया बन जाते हैं। यह क्रेडिट-मुद्रा का ही एक उदाहरण है। इसके बहुविध रूप पूँजीवादी माल उत्पादन के विकसित होने के साथ पैदा होते हैं। बॉण्ड, शेयर, स्टॉक आदि भी क्रेडिट-मुद्रा का ही एक रूप हैं।

मुद्रा का अन्तिम प्रकार्य जिसकी मार्क्स बात करते हैं, वह है **सार्वभौमिक मुद्रा**, यानी मुद्रा का वह रूप जिसमें वह किसी एक अर्थव्यवस्था के भीतर होने वाले माल संचरण में नहीं बल्कि विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के बीच, यानी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में होने वाले माल संचरण में अपनी भूमिका निभाती है। मार्क्स बताते हैं कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में मुद्रा अपनी तमाम क़ौमी वर्दियों को उतार फेंकती है और अपने असली मूल रूप में, यानी सोने/चाँदी के रूप में सामने आती है। यहाँ स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग व्यापार सन्तुलन के निपटारे हेतु भुगतान के माध्यम, मालों की ख़रीद-फ़रोख़्त के लिए प्रत्यक्ष तौर पर संचरण के माध्यम के तौर पर, और समृद्धि के सार्वभौमिक रूप के तौर पर इस्तेमाल होती है। निश्चित तौर पर, बीसवीं सदी की शुरुआत में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा के रूप में सोने का स्थान कुछ अग्रणी देशों, विशेषकर अमेरिका और ब्रिटेन की मुद्राओं और बाद में, यानी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, सिर्फ अमेरिका की मुद्रा डॉलर ने ले लिया था। लेकिन ठीक इसलिए क्योंकि अमेरिका की मुद्रा स्वर्ण-समर्थित थी, जबकि अन्य देशों की मुद्रा डॉलर-समर्थित थी, यानी उनकी डॉलर के साथ एक तय विनिमय दर थी, जबकि स्वयं डॉलर की सोने के साथ एक तय विनिमय दर थी। यह विनिमय दर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 35 डॉलर = 1 आउंस (लगभग 28 ग्राम) सोना था। ये मुद्राएँ अलग-अलग समय पर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा के तौर पर ठीक इसीलिए स्वीकारी गयी थीं, क्योंकि वे सोने में परिवर्तनीय थीं, उसके द्वारा समर्थित थीं और सोने का ही प्रतीक थीं। 1970 के दशक में डॉलर-स्वर्ण मानक के भंग होने के बाद तैरती मुद्राओं (floating currencies) और तैरते विनिमय दर (floating exchange rate) वाली जो मौद्रिक व्यवस्था पैदा हुई है, वह बेशक स्वर्ण-समर्थित नहीं है, लेकिन अभी भी सभी मुद्राओं का मूल्य, मूल्य के श्रम नियम से ही निर्धारित होता है और इसे मार्क्स के मुद्रा सिद्धान्त के ज़रिये ही उपयुक्त तरीक़े से और वैज्ञानिक तरीक़े से समझा जा सकता है। अगले अध्याय में हम इसी पर ध्यान केन्द्रित करेंगे और देखेंगे कि स्वर्ण द्वारा असमर्थित, अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा, जो कि तरल विनिमय दर से निर्धारित है, किस प्रकार मार्क्स द्वारा खोजे गये आम नियम, मूलत: मूल्य के श्रम सिद्धान्त का ही पालन करती है, न कि उसका खण्डन करती है।

**(अगले अंक में जारी)**

### भूल सुधार

इस लेखमाला की पिछली किस्त में फ़रवरी 2023 अंक में पेज 16, अन्तिम कॉलम में दिये समीकरणों को इस प्रकार पढ़ें:

y माल B = x माल A

z माल C = x माल A

w माल D = x माल A

v माल E = w माल A

# रोशनाबाद श्रृंखला की तीन कविताएँ

**कविता कृष्णपल्लवी**

(एक)

## नगद-उधार की उधेड़बुन

नाम सत्यनारायण है।
साथी-संघाती सब सत्तू उसे कहते हैं।
दो महीने घर रहकर लौटा है
घरवाली राजदुलारी को साथ लेकर।
गाँव नांगल सोती, जिला बिजनौर।
नयी-नयी शादी है, एक साल पुरानी।
राजदुलारी को सत्तू
दीपिका पदुकोण समझता है।
दोस्तों से कहता है कि उसकी चाल
और हँसी पर मन दीवाना-मस्ताना हो जाता है।
दोस्त सब ख़ूब हँसते हैं
और भौजाई को छेड़ते हैं।
सत्तू कई गाँवों का कबड्डी चैंपियन रहा
गाँव में और ताजिया के जुलूस में
लाठी भी भाँजता था एक नम्बर।
राजदुलारी का मन भी उसपर
दीवाना-मस्ताना रहता है।
दिहाड़ी करता है सत्तू
हरिद्वार सिडकुल के कारख़ानों में,
जहाँ भी मिल जाये।
दो-चार महीने से ज़्यादा
शायद ही कहीं टिकता है।
रोशनाबाद की मज़दूर बस्ती में रहता है।
भारी काम का माहिर है,
लेकिन सुपरवाइज़रों की निगाह में
मनबढ़ भी है।
जब न भिड़े किसी फ़ैक्ट्री में जुगत
तो लेबर चौक पर खड़ा हो जाता है।
आज शाम को पहुँचा राशन-पानी का
सामान लेने रामबीर पंसारी की दुकान पर।
सौदा-सुलफ़ के बाद जो रक़म बनी
उससे पैंतीस रुपये कम थे
सत्तू की टेंट में।
कुछ देर जोड़ा-घटाया,
कुछ देर सोचा, फिर बोला,
"कुछ सामान कम कर दो सेठ!"
"तू कहे तो फिर खोल दूँ खाता तेरा!"
कहा रामबीर पंसारी ने।
थोड़ा रुका सत्तू, फिर बोला, "रहने दो, सेठ,
जहाँतक हो सके, नगद का हिसाब ही ठीक है।
अब घरवाली भी काम पकड़ लेगी कहीं।
उधार बड़ी आफ़त है।
जान की साँसत है।
आते-जाते ताकते भी हो
तो लगता है तगादा कर रहे हो।"
**

(दो)

## अलका और सुमेर की प्रेम कविता

सिर्फ़ 200 मीटर का अन्तर था उनके डेरों में,
उमर में दो सालों का,
और बिहार में उनके गाँव भी
अगल-बगल के ज़िलों में थे
दो कोस के फ़ासले पर।
जातियाँ अलग थीं उनकी।
अलका थी बढ़ई
और सुमेर कलवार था।
दो बरस की थी जान-पहचान
जो एक-दूसरे को जानने-समझने में लगी।
गाँव-जवार की नज़दीकी भी काम आयी
और यह बात भी कि सुमेर की बुआ
ब्याही थी अलका के गाँव में।
गाँव में दोनों के अपना कहने को
कोई नहीं बचा था
और इसकी भी दोनों की अलग-अलग
लम्बी कहानी थी।
सुमेर की तो खेतीबारी थी ही नहीं,
पिता को उसने देखा ही नहीं था
और सोलह की उमर में माँ भी छोड़ गयी थी
दुनिया में अकेला,
मेहनत-मजूरी कर जिसने उसे पाला-पोसा था।
इकलौती अलका की डेढ़ बीघा ज़मीन
उसके चाचाओं ने दबा ली थी
मलेरिया की चपेट में आकर
माँ के मरने के बाद।
पिता तो बहुत पहले ही
दूसरी शादी करके कोलकाता में बस गये थे
जहाँ कभी गये थे मज़दूरी करने।
अलका मिडिल पास थी
और सुमेर चौथी फेल।
अलग-अलग कारख़ानों में दिहाड़ी करते हुए
कई बार ऐसा हुआ कि दोनों को काम मिला
एक ही जगह
और कई बार तो शिफ़्ट भी एक ही
मिल जाती थी।
अलका को साइकिल चलाना सिखाया सुमेर ने
अपनी पुरानी खड़खड़हिया साइकिल पर।
कुछ पैसे जोड़ जब अलका ने
कसवायी अपनी साइकिल
तो सुमेर गया था साथ।
घटने पर पौने चार सौ रुपये उधार भी दिये।
बार-बार कहने पर भी सिर्फ़ दो सौ ही
वापस लिये।
अलका कई बार उसके लिए भी
रोटी लेती आती थी
जब दोनों काम करते होते थे एक ही फ़ैक्ट्री में।
फिर दिल से दिल मिलने में
बस दो महीने लगे।
समय ही कुछ ऐसा था
इन्सानों का और रिश्तों का
इम्तिहान लेने वाला
कि विपत्ति झेलते अकेले लोगों का
गहराई से आपस में प्यार कर बैठना
कोई अचरज की बात न थी।
कोरोना का कहर बरपा था पूरे देश में।
मज़दूर अधिकतर लौट गये थे अपने गाँव।
अलका और सुमेर भला कहाँ जाते!
आफ़त भरे दिन काटने थे साथ-साथ।
दु:ख इम्तिहान लेते हैं लेकिन
अक्सर लोगों को क़रीब भी ला देते हैं
इसतरह अलका और सुमेर एक दूसरे के हुए।
कोर्ट में शादी हुई।
साथी-संघाती गवाह बने।
रात को मुर्गा कटा, जश्न मना।
अलका ने 'जब प्यार किया तो डरना क्या'
गाना गाया।
सुमेर ने 'चलो दिलदार चलो' गाया।
पुरानी फ़िल्मों के गाने दोनों को पसन्द हैं।
सुमेर के संघाती गनेसी को
जब बिना बकाया भुगतान किये
एक फ़ैक्ट्री से निकाला गया
तो दोनों साथ-साथ फ़ैक्ट्री गेट पर
धरने पर बैठे थे पिछले साल।
अब कमरे में भगतसिंह का एक फोटू भी
टाँग लिया है दोनों ने।
मई दिवस का परचा भी बाँटा था पिछले साल
रोशनाबाद, पठानपुरा और अन्नेकी में
घूम-घूमकर।
ठेकेदार, दुकानदार, सुपरवाइज़र
सब कहते हैं, "बहुत उड़ रहे हैं आजकल दोनों,
माथा घूम गया है!"
दु:खों का इतिहास अगर एक हो
और वर्तमान भी अगर साझा हो
तो प्यार कई बार ताउम्र ताज़ा बना रहता है,
सीने के बायीं ओर दिल धड़कता रहता है
पूरी गर्मजोशी के साथ
और इन्सान बार-बार नयी-नयी शुरुआतें
करता रहता है।
अलका और सुमेर आजकल
मज़दूरों के हक़ और इन्साफ़ की बातें करते हैं
और बेहद कठिन ज़िन्दगी जीते हुए भी
ख़ुश रहते हैं।
अभी रात को साढ़े दस का समय हो रहा है,
बस्ती सो रही है और अलका और सुमेर
अपनी कोठरी में खाना पकाते हुए
'ज़िन्दगी एक सफ़र है सुहाना' गा रहे हैं।
**

(तीन)

## छोटा पाकिस्तान

गफ़ूर मियाँ की साइकिल मरम्मत की गुमटी है
रोशनाबाद में।
रहते हैं पठानपुरा में जिसे अब पठानपुरा
कोई नहीं कहता,
सभी छोटा पाकिस्तान कहते हैं।
गफ़ूर मियाँ रोज़ाना छोटा पाकिस्तान से
आज के हिन्दुस्तान आते हैं
और हिन्दू-मुसलमान, सभी मज़दूरों की
साइकिलों की मरम्मत करते हैं,
पंक्चर साटते हैं।
पठानपुरा पहले शायद पठानों का
कोई गाँव रहा होगा
जो अब शहर का हिस्सा है,
एक मज़दूर बस्ती बस गयी है वहाँ।
वहाँ के अमीर मुसलमानों के बेड़ों में
कुछ सस्ते में और आसानी से गाँवों से आये
उन ग़रीब मुसलमानों को जगह मिल जाती है
जो सिडकुल के कारख़ानों में काम करते हैं।
हालाँकि कुछ हिन्दू मज़दूर भी रहते हैं
पठानपुरा में और कुछ मुसलमान मज़दूर
रोशनाबाद में भी।
रोशनाबाद में शाखा भी लगती है
और ख़ास मौक़ों पर भगवा झण्डे के साथ
जुलूस भी निकलते हैं
जिनसे हालाँकि दलितों के खित्तों के
रहवासी दूर ही रहते हैं
लेकिन ठेकेदारों, दुकानदारों, बेड़ों के मालिकों
और कुछ बाबुओं के बेटों के साथ ही
कुछ नौजवान हिन्दू मज़दूर भी हिस्सा लेते हैं।
कुछ मनबढ़ लड़के कहते हैं गफ़ूर मियाँ से,
"चचा,
अपनी गुमटी तुम लगाओ
अब छोटे पाकिस्तान में
या फिर सीधे पाकिस्तान ही चले जाओ!"
गफ़ूर मियाँ हँसते हैं टूटे दाँत दिखाते हुए,
दाढ़ी खुजाते हुए, फिर कहते हैं, "बेटा, हमरे
अब्बा को तो पाकिस्तान जाना
मंज़ूर नहीं हुआ,
और हम तो एहीं की पैदाइस हैं, बिजनौर के।
अब तो पाकिस्तान वाले भी हमें न लेंगे,
पिछवाड़े लात मार भगा देंगे।
ई तो तुम सबकी किरपा है कि हमरी खातिर
कै-कै ठो छोटा पाकिस्तान बनाय दिये।"
लड़कों के जाने के बाद थोड़ी देर
चुप रहे गफ़ूर मियाँ,
फिर मेरी ओर मुड़कर बोले,
"बिटिया, मेरा बेटा बम्बई में मजूरी करता है।
नालासोपारा की जिस झुग्गी बस्ती में रहता है
उसे भी अब लोग छोटा पाकिस्तान कहते हैं।
ओरिजिनल नाम लक्ष्मीनगर था, फिर
पुलिसवालों ने यह नाम दे दिया
और अब यही चलता है।"
एक लम्बी साँस लेते हैं गफ़ूर मियाँ,
फिर कहते हैं, "पाकिस्तान तो हम गये नहीं,
मगर अब लगता है पाकिस्तान से आये रिफूजी हैं,
रिफूजी कैम्प में रहते हैं।"
**

**(टिप्पणी : रोशनाबाद उत्तराखण्ड में हरिद्वार के पास सिडकुल, यानी उत्तराखण्ड राज्य औद्योगिक विकास निगम लिमिटेड के औद्योगिक क्षेत्र से लगी मज़दूरों की बस्ती है। पठानपुरा (जिसके लिए आजकल 'छोटा पाकिस्तान' नाम ही चल गया है), हेत्तमपुर और अन्नेकी गाँव की मज़दूर बसाहटें इससे लगी हुई हैं।)**

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2025
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

शिक्षा-रोज़गार की बात करो!

जनअधिकार यात्रा के साथ चलो!!

# भगतसिंह जनअधिकार यात्रा

## 12 मार्च– 14 अप्रैल 2023

### बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता और मेहनतकश जनता की लूट के ख़िलाफ़!

### रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा, आवास और जुझारू जनएकजुटता के लिए!

## प्रमुख माँगें

● रोज़गार के अधिकार को मूलभूत अधिकारों में शामिल किया जाये। 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' को संसद में पारित किया जाये। सभी योग्य नागरिकों को 365 दिन काम की गारण्टी अथवा ₹10,000 प्रति माह बेरोज़गारी भत्ता दिया जाये। सभी रिक्त सरकारी पदों पर भर्ती की जाये।

● सभी श्रम क़ानूनों को सख़्ती से लागू किया जाये। नये प्रस्तावित 'लेबर कोड्स' को रद्द किया जाये।

● महँगाई पर नियन्त्रण के लिए जमाख़ोरी, वायदा कारोबार (फ़्यूचर्स ट्रेड) व सट्टेबाज़ी पर रोक लगायी जाये। बुनियादी वस्तुओं व सेवाओं के वितरण की व्यवस्था का राष्ट्रीकरण किया जाये।

● शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकारों में शामिल करो। जनविरोधी 'नयी शिक्षा नीति 2020' को रद्द किया जाये।

● सच्चे सेक्युलर राज्य को सुनिश्चित करो, किसी भी सरकार, पार्टी व नेता द्वारा धर्म, समुदाय अथवा आस्था का सार्वजनिक जीवन में उल्लेख दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये।

आप यात्रा से कैसे और कहाँ पर जुड़ सकते हैं और यात्रा के साथ किस तरह से सहयोग कर सकते हैं, इसकी जानकारी देने के लिए इस QR कोड को स्कैन करके गूगल फ़ॉर्म भरें।

यात्रा का पर्चा डाउनलोड करने के लिए इस QR कोड को स्कैन करें।

**अन्धकार का युग बीतेगा! जो लड़ेगा वो जीतेगा!!**

@bsjay 9582712837

BHAGAT SINGH JAN ADHIKAR YATRA BSJAY

राज्यवार सम्पर्क:- दिल्ली: 9289498250, 9693469694; उत्तर प्रदेश: 8858288593, 9891951393; हरियाणा: 8010156365, 8685030984; महाराष्ट्र: 7798364729, 9619039793; बिहार: 6297974751, 7070571498; उत्तराखण्ड: 9971158783, 7042740669; पंजाब: 9888080820; आन्ध्र प्रदेश: 7995828171, 8500208259; तेलंगाना: 9971196111; चण्डीगढ़: 8196803093

● भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI)

● नौजवान भारत सभा ● दिशा छात्र संगठन ● बिगुल मज़दूर दस्ता

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गाँधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006